

**TEXT FLY
WITHIN THE
BOOK ONLY
TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186320

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP--23--4-4-69--5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 80.1 / A82K** Accession No. **H 238**

Author **अशोक कुमार सिंह**

Title **काव्य संप्रदाय और वाद ।**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

काव्य सम्प्रदाय और वाद

लेखक

श्री अशोककुमारसिंह

वेदालंकार, प्रभाकर, एम० ए०, एल० टी०

सर्वोदय साहित्य मंदिर,

कोठी, (बसस्टैंड,) हंटराबाद ६.

प्रकाशक

ओरिएण्टल बुक डिपो

१७०४, नई सड़क, दिल्ली

ब्राञ्च:—प्रताप रोड, जालन्धर

प्रकाशक:—

ओरिएण्टल बुक डिपो

नई सड़क, दिल्ली

Checked 1965

मूल्य ४।।)

Checked 1969

मुद्रक

विश्व भारती प्रेस

पहाड़गंज, नई दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
काव्य-सम्प्रदाय	१ से १३६
भूमिका	क से ठ
भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास	३
रस-सम्प्रदाय	२७
अलंकार-सम्प्रदाय	७५
रीति-सम्प्रदाय	८१
ध्वनि-सम्प्रदाय	६६
वक्रोक्ति-सम्प्रदाय	१२८
काव्य के वाद	१३७ से २३४
स्वच्छन्दतावाद	१४१
छायावाद : रहस्यवाद	१५१
प्रगतिवाद	१८६
साहित्य अतृप्त वासनाओं की पूर्ति का साधन है	२२०
अभिव्यञ्जनावाद	२२५



भूमिका

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ मम्मटाचार्य ॥

“यदि मुझे निखिल विश्व में से एक ऐसा देश, जिसे प्रकृतिदेवी ने अपने अमित वैभव, शक्ति और सौन्दर्य से विभूषित किया है, भू पर स्वर्गोपम रचा है, ढूँढना पड़े तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा । यदि मुझसे पूछा जाय कि वह कौनसा आकाश-खण्ड है जिसके नीचे मानवीय प्रतिभा ने अपने सर्वोत्तम वरदानों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया है, जीवन के शाश्वत एवं गूढ़तम प्रश्नों की तह में पहुँचने का सफल प्रयास किया है और उनमें से कह्यों का प्रामाणिक समाधान, जो कि प्लेटो और काण्ट के अध्येताओं तक का ध्यान आकृष्ट कर सके, प्रस्तुत किया है—तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा । और यदि मैं स्वयं ही अपने से प्रश्न करूँ कि हम योरूपवासी, जो कि लगभग समग्रतः ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक यहूदी जाति की विचार-धाराओं पर पालित-पोषित हुए हैं; कौन से ‘साहित्य’ से उस अनिवार्यरूपेण वाञ्छित स्फूर्ति को प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे आन्तरिक जीवन को अधिक पूर्ण, व्यापक, विश्वजनोन् और वस्तुतः—न केवल इस जीवन को अपितु परवर्ती शाश्वत जीवन को भी—अधिक मानवीय बना दे—तो मैं पुनरपि भारत का ही निर्देश करूँगा ।” —मैक्समूलर ।

ये उद्गार पौरस्त्य विद्याओं एवं साहित्य के विख्यात मर्मज्ञ, पाश्चात्य विद्वान् श्री मैक्समूलर के हैं । किसी भी देश और उसके दार्शनिक भीमांसा-शास्त्र और साहित्य के विषय में इससे अधिक

गौरवपूर्ण शब्दावली का प्रयोग सम्भवतः आज तक किसी प्रामाणिक आलोचक द्वारा नहीं किया गया । उक्त संक्षिप्त सम्मति का महत्त्व इस कारण कहीं बढ़ गया है कि यह एक ऐसे विदेशी विद्वान् के दीर्घकालीन अध्ययन का निष्कर्ष है, जिसने अपने जीवन का अधिकांश समय संसार के साहित्यमहोदधि का तुलनात्मक अवगाहन करने में व्यतीत किया है । आज का स्वतन्त्र भारत इसी साहित्य का एकमात्र उत्तराधिकारी है ।

संस्कृत-साहित्य संसार के प्राचीनतम साहित्य-संग्रहों में से अन्यतम है । इसके विषय में अब तक, निश्चित रूप से, यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितनी सहस्राब्दियों के मनीषियों की चिन्तन-साधना का 'सत्' सञ्चित है । इस अक्षय ज्ञाननिधि की, जैसा कि मैक्समूलर के उद्गारों से स्पष्ट है, आवश्यकता केवल भारत-सन्तान के लिए ही नहीं, अपितु विश्व के 'मानव' को 'मानवीय' बनाने के लिए भी है । तो एक राष्ट्रीय प्रश्न हमारे सामने आता है—क्या स्वतन्त्र भारत इस दुष्प्राप्य महानिधि को सुरक्षित रख सकेगा ?

आज के मानव का अग्रणी, वह मानव ! और उसकी नवेली सहचरी पाश्चात्य सभ्यता !! कौन नहीं जानता कि पाश्चात्य सभ्यता का लाड़ला यह मानव आज अपने वैभव के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है ? महायन्त्र-प्रवर्तन की अपार क्षमता और आणविक शस्त्रास्त्रों की कल्पनातीत शक्तिमत्ता के अनुपम वरदानों ने उसके मन में 'प्रकृति-प्रिया' के हठात् वरण की अदम्य आकांक्षा उद्दीप्त कर दी है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस वृद्ध विश्व की चिरअभिलाषा की तृप्ति का वह स्वयंवर-समारोह, जिसमें हठीली प्रकृति को 'मानव' के गले में विजयमाला डालनी पड़ेगी, सर्वथा निकट आ गया है । ऐश्वर्यों का स्वामी 'मानव' राजसूय यज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न कर 'शतक्रतु' की पदवी पाने को है; और यह विजय-वैजयन्ती पुष्प-पंखुड़ियों को नभ से बिखेरती हुई फहराना

ही चाहती है ।.....'परन्तु अरे ! इस शुभ घड़ी में यह शंका कैसी ? क्या कहा—'अधूरा मानव !' हाँ; ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक जाति यहूदी के सम्पूर्ण साहित्य की 'मिश्रित खुराक' पर पोषित होकर भी यह मानव अधूरा ही है । सम्भव है, लक्ष्यभ्रष्ट होकर वह मानवता का ही संहार कर बैठे । तब यह स्वयंवर-समारोह विश्व-श्मशान के रूप में परिणत हो जायेगा ।

तब मानवता की रक्षार्थ भावनाओं के परिष्कार का आयोजन आवश्यक है । विश्व-शान्ति का आधार पारस्परिक सद्भावनाएँ ही हो सकती हैं । कलात्मक साहित्य, समन्वय-प्रधान दर्शन और 'सर्वभूतहितैरतः' वाली आध्यात्मिक विचारधारा भावनाओं को उदात्त बनाने में अमोघ मानी जा सकती है । यदि शुष्क एवं बुद्धिमूलक विज्ञान के अध्ययन ने आज के मानव को हृदयहीन बना दिया है तो कलात्मक साहित्य अपनी मोहक माधुरी से उसमें सच्ची सहृदयता की चेतना फूँक सकता है । यह कहना अतिचार न होगा कि संस्कृत-साहित्य में मानवीय भावनाओं के परिष्करण की अनुपम क्षमता है । विश्व के दूसरे महान् सत्साहित्यों के समानान्तर संस्कृत-साहित्य मानवीयता के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है; इसमें सन्देह नहीं ।

विश्व और मानवता के लिए संस्कृत का पुरातन साहित्य बड़ा उपयोगी है; यह माना जा सकता है । परन्तु नवोदित भारतीय राष्ट्र के लिए इसकी क्या महत्ता है ? यह प्रश्न भी गम्भीरता से विचारणीय है ।

संस्कृति भूतकाल की प्रगति का जातीय प्रवाह है, जिसका 'प्रवेग' जाति को भविष्य के पथ पर अग्रसर करता है । इस प्रवाह में वह सभी कुछ शामिल रहता है, जो भूत में जाति के मार्ग में आ उपस्थित होता आया है । और उस 'समग्र' का प्रत्येक अंश प्रवाह के 'प्रवेग' से शक्ति

प्राप्त कर उसी प्रवाह को इस प्रकार से 'प्रवेग' प्रदान करता है, जिससे जातीय आचार-विचार की धारा एक सुनिश्चित दिशा में प्रगतिशील हो उठती है । इस प्रकार संस्कृति का मूल तत्त्व प्रवेग या "प्रगति के लिए सुनिश्चित आतुरता" है । यह आतुरता 'प्रवाह' की संसक्ति अथवा एकता पर निर्भर है । यदि जातीय प्रवाह में संसक्ति (एकनिष्ठता) न रहे तो जाति छिन्न-भिन्न हो बिखर जाती है । फलतः सामूहिक जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है । इसीलिए जातीय उत्थान और प्रगति के लिए संस्कृति की आवश्यकता होती है ।

भारतीय राष्ट्र लगभग एक सहस्राब्दिपर्यन्त राजनैतिक अधःपतन के महागर्त में निमग्न रहा । इस महागर्त से हमारे राष्ट्र का उद्धार कैसे हुआ ? यह एक सांस्कृतिक एकता की सूक्ष्म शक्ति की विजय की रहस्यमयी कहानी है । भारतीय संस्कृति के प्रवेग में से तिलक, ऋषि दयानन्द, मालवीय, रवीन्द्र और गाँधी जैसे महापुरुष सामने आये; जिन्होंने राष्ट्र के जातीय प्रवाह की अतुलित शक्ति को पहिचान लिया और उसे काम में लाये; जिसका फल यह हुआ कि आज भारतीय राष्ट्र उत्तप्त भट्टी में से तपकर निष्पन्न कञ्चन की तरह अवदात होकर नव अरुणोदय के रूप में जगती के रङ्गमञ्च पर सहसा आ खड़ा हुआ है । अब उसे मानवीय संस्कृति के विकास तथा आत्म-अभ्युदय के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करना है ।

राष्ट्रनायक जवाहरलाल के शब्दों में यदि कहा जाय तो आज दिन भारतीय राष्ट्र को सर्वोपरि जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है— 'राष्ट्रीय एकता' । परन्तु यह बात सर्वथा सुविदित है कि राष्ट्रीय एकता का आधार होता है 'सांस्कृतिक एकता' । यही वह वस्तु है, जिसने असमय में भारतीय राष्ट्र की रक्षा की, जो भारतीय राष्ट्र को राष्ट्र बनाती है, और जो भारतीय राष्ट्र को विश्व-सेवाओं में गौरव प्रदान करवा सकती है । परन्तु दुर्भाग्य से हमारी 'सांस्कृतिक एकता' प्रान्तीयता,

पद-लोलुपता, कुनवा-परस्ती और भाषा-विप्लव जैसी महामारियों से आक्रान्त-सी दीख रही है। भौतिक सुखोपभोग और महत्वाकांक्षाओं की लिप्सा के कारण भारतवासियों के 'समान-जीवन-दर्शन' के तिरोहित होने का भय उपस्थित हो गया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत वर्णाश्रम-मर्यादा', जिसने सहस्रों वर्षों तक इस विशाल-मानव-समूह की नीव में रहकर काम किया है, आधुनिक प्रजातन्त्र में पोषण के अभाव में सूखने लगी है। वर्णाश्रम-मर्यादा समाज और व्यक्ति के जीवनो को उचित रूप में मर्यादित कर एक-दूसरे के प्रति समन्वित करती थी। उसका यह कार्य तो समाप्त हो गया; सिर्फ उसके ध्वंसावशेष के रूप में बचे जाति-पाँति के बन्धनों के जाल ने समाज को कसकर जकड़ दिया है। इसके अनिरीकृत सांस्कृतिक चेतना और मातृभूमि की उपासना के केन्द्रीभूत 'तीर्थस्थान' भी 'सिटी' रूप में परिणत होते जा रहे हैं। भौतिक मिथ्याचार ने श्रद्धातत्त्व की सजीवता पर पाबन्दी लगा दी है। भाषा-विप्लव ने तो सांस्कृतिक क्षेत्र में कानन-कानून को चरितार्थ कर रखा है। भारतीय इतिहास में वह दिन दुर्भाग्य का ही कहा जा सकता है, जिस दिन संस्कृत-भाषा का राष्ट्रीय गौरव समाप्त किया गया। सांस्कृतिक एकता की जड़ में यह प्रबलतम कुठाराघात था। जब भगवान् बुद्ध ने लोक-बोलियों को मान्यता देकर 'विकार' और 'प्रमाद' के लिए रास्ता साफ कर दिया तो भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुसार नित्य-नूतन प्रादुर्भूत होनेवाली बोलियों के दुर्दमनीय प्रवाह ने भारत-भू को एकदम निमज्जित कर दिया। इस विकट परिस्थिति को तीन महापुरुषों ने खूब समझा। इनमें दो सज्जन गुजराती और एक अंग्रेज थे। गुजराती महानुभाव स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी ने सुधार के उपाय के रूप में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को असन्दिग्ध रूप में राष्ट्रभाषा स्वीकार कर भाषा-विप्लव की समाप्ति की उद्घोषणा की। अंग्रेज महानुभाव थे—मैकाले साहब। इन्होंने भारत में अंग्रेजी भाषा को नई

बला के रूप में सत्तारूढ़ कर भाषा की समस्या हल करनी चाही । पर उन्हें सफलता न मिली । कारण स्पष्ट है; मैकाले साहब की धारणा थी—“भारत और अरेबिया का सम्पूर्ण साहित्य योरुप के किसी पुस्तकालय की अलमारी के एक खाने की तुलना मुश्किल से कर पायेगा ।” मैकाले साहब की गलत धारणा के कारण ही संसार की सर्वाधिक विकसित भाषा अंग्रेजी, संसार के सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्य की शक्ति को पीठ पर पाकर भी, भारत में स्थायित्व न पा सकी । अस्तु । इधर ऋषि दयानन्द और महात्मा गाँधी के प्रयत्न के बावजूद भी भाषा-विप्लव की विकराल आँधी पूरी तरह शान्त नहीं हो पाई है, और आज भी सांस्कृतिक एकता के लिए वह सर्वाधिक भय का कारण है ।

हमारा युक्ति-क्रम यह है कि राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता अनिवार्य है । इसमें अन्य साधारण बाधाओं के अतिरिक्त भाषा-विप्लव की बाधा सबसे उग्र है । यह वह बिन्दु है, जहाँ पर चोट करने से सांस्कृतिक एकता का सिंहासन उलट जाता है । भारतीय भाषा-विप्लव के प्रसंग में उर्दू का उत्पात और अंग्रेजी का अहंकार चिर-स्मरणीय रहेंगे । वस्तुतस्तु उर्दू कोई अलग भाषा नहीं है । उसके वाक्यों का विन्यास और ढाँचा तथा क्रिया-पद सभी हिन्दी-व्याकरण-सम्मत है । उसमें यदि कोई नवीनता है तो केवल अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों की । इसका भी कारण है । उक्त देशों से आनेवाले मुस्लिम शासकों ने अपने अरबी-फारसी प्रेम को मूर्त रूप देने के लिए हिन्दी में उन भाषाओं के शब्दों की खुली भर्ती का ऐलान कर दिया जिससे हिन्दी बेचारी का हुलिया ही तब्दील हो गया । इसका अर्थ यह हुआ कि अरबी-फारसी की भरमारवाली जो भाषा उर्दू-रूप में हमारे सामने आती है, उसमें उन शब्दों की भर्ती का आग्रह उन शासकों की विशिष्ट मनोवृत्ति का परिचायक है । स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र के समुन्नत

समय में शासकों की तथाकथित विशिष्ट मनोवृत्ति की समाप्ति हो जाती है और उसके साथ उस मनोवृत्ति के अलङ्करण भी निस्तेज व निर्वीर्य होकर स्वतः मूर्छित हो जाते हैं । अतः अब उर्दू भाषा में विदेशी शब्दों की वैसी भरमार को सम्भवतः प्रोत्साहन न मिल सकेगा । तब उर्दू और हिन्दी एक ही रह जाती हैं ।

अब जरा अँग्रेजी भाषा के 'अहंकार' पर भी विचार कर लेना चाहिये । उर्दू के उत्पात के पीछे कोई ठोस वैज्ञानिक आधार कभी नहीं रहा । वह केवल कतिपय विदेशी शासकों की कमजोरीमात्र थी, जिसे बाद में कुछ साम्प्रदायिक रंग देकर अखाड़े में उतारा गया । वास्तविक रूप से मुस्लिम जनता का, जो हिन्दुओं में से निकलकर इस्लाम धर्म में दीक्षित हुई थी, अरबी-फारसी शब्दावली से वैसा कोई लगाव कभी न था । मुस्लिम जनता की यदि कोई स्वाभाविक साहित्यिक परम्परा हो सकती थी तो वह रसखान और जायसीवाली ही थी । इसके विपरीत अँग्रेजी भाषा के पीछे एक गौरवपूर्ण तत्त्व है । यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि अँग्रेजी भाषा संसार की समृद्धतम भाषाओं में से एक है । अँग्रेजी शासनकाल में संस्कृत-भाषा का विकास सर्वथा निरुद्ध और भारतीय लोक-भाषाओं का सीमित किया जा चुका था । ऐसी अवस्था में अँग्रेजी अपने साहित्यिक विकास के पूर्ण यौवन में भर शासनसत्ता की मदिरा से उन्मत्त हो मोहक लास्य नृत्य कर उठी, जिसने भारतीय विद्वज्जनों के मन को भी मोहित कर लिया । राज्यभाषा होने के कारण इसके उपासकों को 'पद' और 'अर्थ' दोनों का लाभ होता ही था । इस सबके कारण भारतीय प्रतिभाओं को निखिल भारतीय रूप में आकर चमकने का अवसर न मिला । महाकवि रवीन्द्र बंगाल के और श्री प्रेमचन्द्र इधर के होकर रह गये । इन प्रतिभाओं का अँग्रेजी रूपान्तर भारतीय जन-मानस से बहुत दूर की चीज़ हो जाता था । उसमें शासकीय रौब एवं दुरुहता की गन्ध आने लगती थी । जब भारत में

(ज)

विचारों के माध्यम के रूप में—अखिलदेशीय रूप से—कोई भाषा न रही तो यहाँ विचार-दारिद्र्य और मौलिकता का महा अकाल पड़ गया ।: इसे देख लोगों की यही धारणा रह गई कि 'हिन्दुस्तानी अच्छा गुलाम होता है।' इस बढ़ते हुए मर्ज की रोकथाम के लिए महात्मा गाँधी ने ले-देकर उन विषम परिस्थितियों में 'हिन्दुस्तानी' का आविष्कार किया । परन्तु समय ने सिद्ध कर दिया कि रोगी की प्रकृति के प्रतिकूल दी गई औषध फलवती सिद्ध नहीं होती । भाषा-विप्लव-काण्ड में 'हिन्दुस्तानी' का हुड़दंग एक धमाका बनकर रह गया ।

यदि संक्षिप्तरूपेण भारतीय भाषा-विप्लव की अराजकता पर दृष्टि-पात करें तो हमें निम्न विनाशक परिणाम स्पष्टतया लक्षित होंगे—

- (क) भारतीय सांस्कृतिक भाषा संस्कृत अपने चिर-अधिष्ठित सिंहासन से पदच्युत कर दी गई । उसका स्थान लेने के लिए शासकीय शक्ति का सहारा लेकर क्रमशः फ़ारसी और अँग्रेजी व हिन्दुस्तानी भाषाएँ आईं । पर वे सफल न हो सकी, क्योंकि उनके पीछे भाषा-वैज्ञानिक नियमों का बल न था ।
- (ख) सांस्कृतिक भाषा के अभाव में सांस्कृतिक चेतना और प्रतिभा की मौलिकता को फलने-फूलने का माध्यम अनुपलब्ध हो गया । फलतः सांस्कृतिक दैन्य के लक्षण प्रकट होने लगे और भारत में मानसिक दासता का जन्म हुआ ।
- (ग) इन सबके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय स्वरूप में विकार आने लगा ।
- (घ) व्यावहारिक भाषा का स्थान अँग्रेजी को मिल गया । राष्ट्रीय चेतना प्रान्तीय दैर्घ्यता का रूप धारण कर खण्डित होती गई ।
- (च) भारतीय समाज कुछ ऐसे समुदायों में विभक्त हो गया जिनके

मध्य बड़ी अस्वाभाविक दीवार खड़ी हो गयी। अंग्रेजी जानने-
वालों तथा अंग्रेजी से अनभिज्ञ लोगों के मध्य मिथ्या आडम्बर
स्थान पा गया।

(छ) ग्रामीण समाज को मानसिक और सांस्कृतिक चेतना की धारा से
वञ्चित हो जाना पड़ा।

आखिर वह दिन भी आया, जबकि भारतीय संविधान में संस्कृत-
निष्ठ हिन्दी को राजकीय भाषा स्वीकृत किया गया। इससे यह बात
स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी की संस्कृतनिष्ठता बड़े महत्त्व की है। यदि
हिन्दी को संस्कृत के आधार पर विकसित न किया गया तो यह भी
पूर्ववर्ती प्रयोगों की तरह व्यर्थ होगा। संस्कृत-साहित्य अपनी विविध
और समुन्नत परम्पराओं को प्रदान कर हिन्दी को गौरवान्वित कर
सकता है। हमारे प्राचीन साहित्य की सर्वोत्कृष्ट देन—भारतीय नव-
राष्ट्र के लिए—यही हो सकती है। संस्कृत में ही वह शक्ति निहित है
जो एक सहस्र वर्षों से पथ-भ्रष्ट राष्ट्र को संस्कृति के उस पथ पर
डाल सकती है जो राष्ट्रीय गौरव के उपयुक्त है।

इस परिस्थिति में राष्ट्रभाषा-सेवकों पर जो महान् उत्तरदायित्व
आ पड़ा है, उसके प्रति सजग रहने से ही सफलता सम्भव है। यह
नितान्त आवश्यक है कि राष्ट्रभाषा के अध्ययन-क्रम के पीछे जो दृष्टि
है उसमें मौलिकता एवं गाम्भीर्य दोनों आ जायें। संस्कृत माता की
सुखद गोद में बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती आदि बहिनें इस प्रेम
से मिल जायें कि मानों पितृगृह में आकर सगी बहनों परस्पर गले मिल
गई हों। भारतीय गणतन्त्र की छत्रछाया में यह स्नेह-सम्मेलन चिरकाल
तक सुधारस-धार प्रवाहित कर जन-मन को तृप्त करता रहे।

अंग्रेजी शिक्षा-विशारदों के निर्देश से आधुनिक भारतीय भाषाओं
की उच्च कक्षाओं एवं संस्कृत भाषा का जो पाठ्य-क्रम निर्धारित था

वह पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही जन्म दे सकता था । अब उस अध्ययन में ठोस गाम्भीर्य आने की आवश्यकता है । इस सबके अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा को यहाँ से सादर विदा करने से पूर्व उसके अन्दर विद्यमान वैज्ञानिक साहित्य की अपूर्व विभूति को आत्मसात् करने का उपक्रम भी वाञ्छनीय है । आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य के बिना संस्कृत, हिन्दी और अन्य सभी देशीय भाषाएँ युग-दृष्टि से अङ्कित ही हैं ।

इतनी पृष्ठभूमि के पश्चात् अपनी बात भी कहनी आवश्यक है । भारतीय साहित्यिक परम्परा के सम्यगवबोध के बिना किसी भी भारतीय भाषा का अध्ययन अपूर्ण है । अतः इस तुच्छ प्रयास में आधुनिक हिन्दी काव्य-धाराओं को प्राचीन भारतीय काव्य-मतों की शृङ्खला में रखकर हिन्दी-काव्य की प्रगति को परखने की चेष्टा की गई है । आशा है कि हिन्दी और संस्कृत-साहित्य की उच्च कक्षाओं के अध्येता छात्रों को एक शृङ्खला में आवद्ध भारतीय काव्य-परम्पराओं को देखने का अवसर मिलेगा । आरम्भ में 'अलङ्कार-शास्त्र' के संक्षिप्त इतिहास को रख दिया है, ताकि विषय की रूपरेखा पहिले ही ज्ञात हो सके ।

काव्यमतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में साधारणरूपेण निम्न तथ्य ध्यान रखने उचित है, ताकि शुद्ध साहित्यिक विवेक का अनुसरण सम्भव हो सके—

- (१) प्राचीन भारतीय काव्यमत काव्य के स्वरूप की खोज में निकले हुए काव्यालोचकों द्वारा स्थापित हुए थे ।
- (२) जबकि आधुनिक हिन्दी के 'वाद' कवियों की रचनाओं को 'श्रेणी-बद्ध' करने से देखने लगे हैं ।
- (३) कुछ 'वाद', जैसे 'प्रगतिवाद', रोटी के राग के रूप में साहित्यक्षेत्र में लाये गये हैं । इनका प्रादुर्भाव न कपिष्ठ है और न आलोचकान्वेषित ।

(४) अनेक वाद ऐसे भी हैं जो विदेशी 'आलोचना-क्षेत्र' से यहाँ आकर अभ्यागत रूप में उपस्थित हैं। उनकी उपस्थिति से हमारे आलोचना-साहित्य की शोभा बढ़ी है।

अलङ्कार-शास्त्र के अध्ययन का महत्त्व क्या है और उसके द्वारा किस लक्ष्य की पूर्ति होती है, यह भी विचारणीय है। 'हमारे यहाँ सभी कुछ है' की प्रवृत्ति जिस तरह कूपमण्डूकता की जन्मदात्री है, उसी तरह विलायत के नित्य-नवीन जन्म लेने वाले फैशनात्मक सिद्धान्ताभास भी जिज्ञासु को 'आकाश-बेल' बनाने के लिए काफी है। आवश्यकता इस बात की है कि तर्क-संगत विवेचन के सहारे विचारों की पारस्परिक तुलना, उनका साम्य-वैषम्य के आधार पर वर्गीकरण और तदनन्तर शासक नियमों का उद्घाटन कर सकने की विश्लेषणात्मक क्षमता का उदय हो, ताकि सिद्धान्तों के वैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण का मार्ग प्रशस्त होता रहे। यह सब, उथले और प्रमाण-पत्र-प्रदायक परीक्षा-पास-मात्रात्मक अध्ययन से न हो सकेगा। डा० देवराज के अधोलिखित अभिमत से सहमत होते हुए हमारी कामना है कि यह तुच्छ प्रयास साहित्य के संतुलित अध्ययन में संस्कृत-हिन्दी के छात्रों व जिज्ञासुओं को सहायक हों। इसी में हमारे श्रम की सफलता है —

“जो व्यक्ति काव्य-साहित्य का रस ग्रहण कर सकता है, उसे हम भावुक या सहृदय कहते हैं।..... यदि पाठकों और भावी आलोचकों की रस-ग्राहणी शक्ति का स्वाभाविक रूप से विकास हो, तो सम्भवतः उसकी इतनी कमी, उसमें इतना विकार, न हो। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हमारी काव्याभिरुचि का विकास काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी मतमतान्तरों के बीच होता है। हमारे शिक्षकों का उद्देश्य हमारी काव्यशास्त्र की रस ग्रहण करने की शक्ति को प्रबुद्ध और पुष्ट करना नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट आलोचना-प्रकारों से परिचित कराकर परीक्षा में

‘पास’ करना भर रहता है, जिसके फलस्वरूप हमारी वह शक्ति नितान्त विकृत या कलुषित हो जाती है । इस विकृति का प्रभाव पाठकों, आलोचकों तथा साहित्यकारों—तीनों पर देखा जा सकता है, और उसका कुफल साहित्यकारों तथा सम्पूर्ण जातीय साहित्य को भोगना पड़ता है ।” — (साहित्य-चिन्ता, पृष्ठ-संख्या ८) ।

काव्य-सम्प्रदाय

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास

“भरत से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ पर्यन्त हमारे देश के अलङ्कार-ग्रन्थों में साहित्यविषयक जैसी आलोचना दीख पड़ती है वैसी ही आलोचना दूसरी किसी भाषा में आज तक हुई है, यह मुझे ज्ञात नहीं।” डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

भारतीय विद्वानों का काव्यशास्त्र का अनुशीलन समृद्ध, प्रौढ़, सूक्ष्म और वैज्ञानिक है। इसके पीछे सहस्रों वर्षों का इतिहास और न जाने कितने मनीषियों की साधना छिपी हुई है। विश्व के पुस्तकालय के प्राचीनतम ग्रन्थों—वेदों में, स्वयं वेद को काव्य कहा गया है। निःसन्देह वहाँ यह ‘काव्य’ शब्द एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है—“पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।” अर्थात् ए मनुष्य ! तू परमात्मदेव के उस काव्य को देख जो न कभी मरा है और न जीर्ण होता है। काव्य की इससे अधिक मौलिक एवं स्पष्ट व्याख्या क्या हो सकती है ! काव्य को अजर-अमर कहकर कला के तत्त्वों को एक स्थान में समाहित कर दिया है। इतनी पुष्ट व्याख्या के साथ-साथ काव्य शब्द का प्रयोग असन्दिग्धरूपेण इस बात का ज्ञापक है कि वैदिक ऋषि काव्य के स्वरूप व महत्ता से सम्यक्तया परिचित थे। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋचाओं में भी उत्कृष्ट कोटि का काव्यत्व प्राप्त होता है, यह सब हम यथास्थान देखेंगे।

यद्यपि भारतीयों ने सहस्रों वर्षों की विशाल ग्रन्थ-रत्न-राशि और उसकी अमूल्य ज्ञान-निधियों को अद्भुतरीत्या सुरक्षित रखने की जो तत्परता दिखाई है वह न केवल प्रशंसनीय ही है, अपितु आश्चर्यजनक

भी है; तो भी आत्मविज्ञान की अत्यन्त अरुचि के कारण इतिहास के प्रति उनकी उदासीनता साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम को समझने में भारी कठिनाई उपस्थित करती है। प्रचुर एवं पर्याप्त इतिहास-सामग्री के अभाव में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ तक पंदा हो जाती हैं। विकास-क्रम के उत्साही छात्र की इस असहायावस्था में एकमात्र मार्ग यही है कि वह अपने काव्यशास्त्र के इतिहास का अध्ययन भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से प्रारम्भ करे।

काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों और विवेचनों के सम्यक् बोध के लिए उसकी ऐतिहासिक क्रम-बद्धता भी आवश्यक है। परन्तु उसे प्राप्त करना अति कठिन है। उसके लिए एतद्विषयक भारी अनुसन्धान-सामग्री और श्रम की अपेक्षा है। जिन कारणों से काव्यशास्त्र का इतिहास दुर्लभ बना हुआ है उनका यहाँ निर्देश कर देना आवश्यक है :—

१. विद्वानों के उपलब्ध ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हैं। प्रक्षिप्त अंश काफी रहता है। फिर मूल और प्रक्षिप्तांश का विवेक करना और भी दुःसाध्य है। अतः इस प्रकार के मिश्रित ग्रन्थों के काल-निर्णय में त्रुटि रह जाती है। अथच मानवजाति के दुर्भाग्य से पता नहीं कितने ग्रन्थ अप्राप्त हैं, और कितने ही विनष्ट होकर सदा के लिए अस्तित्वहीन हो काल के गाल में समा गये। उदाहरणार्थ नन्दिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र, गीत, नृत्य और तन्त्रसम्बन्धी पुस्तकों का उल्लेख तो मिलता है परन्तु अद्यावधि उनमें से कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।
२. भारतीय विद्वानों ने अपने विषय में प्रायः कुछ भी परिचय नहीं दिया है। अतः उनके जीवन, काल, रचित ग्रन्थों और प्रतिपादित सिद्धान्तों का पता पाना कठिन है।
३. अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका क्रमशः विकास होता रहा है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसे देखकर यह प्रतीत होता

है कि यह अनेक समयों में अनेक व्यक्तियों द्वारा सम्पादित होता रहा है।

अस्तु ! जब तक काव्यशास्त्र के इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता तब तक काव्यशास्त्र के अन्तर्गत उठनेवाले साहित्यिक मतों और वादों का समझना व उनका महत्त्व अङ्कित करना नितान्त क्लिष्ट है। फिर भी श्रमशील विद्वज्जनों की कृपा से हमें काव्यशास्त्र के इतिहास का एक मोटा-सा ढाँचा प्राप्त है। इसलिए उस ढाँचे की रूप-रेखा से अवगत होकर हमें अपना काम चलाना पड़ेगा।

×

×

×

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ नाट्यशास्त्र ॥

जब किसी सुनसान बीहड़ वन के खण्डहर में किसी भगोड़े सम्राट् की रानी के गर्भ से युवराजपदभाक् कुमार का जन्म हुआ होगा तो राज-दम्पती की तात्कालिक मानसिक वेदना, विक्षोभ और निरीहता का अनुमान आज वीणापाणि भगवती देवी को अवश्य ही हो रहा होगा। आधुनिक बुद्धिवादी रिसर्च-स्कॉलर जब महारानी सरस्वती तक के वरेण्य पुत्र “काव्यपुरुष” का जन्म किसी घुनखाई प्राचीन पुस्तक में खोज निकालते हैं और ‘कुमार’ के विकासक्रम को तर्कपूर्ण अनुसन्धानों से शनैः शनैः उद्घाटित करते चलते हैं तो उन्हें ‘काव्यमीमांसा’ में राजशेखर द्वारा वर्णित ब्रह्मा की आज्ञा से सम्पन्न पुत्र-जन्मोत्सव की याद अवश्य आ जाती होगी ! कहाँ वह ऐश्वर्य, कल्पना और वाग्विभूति से सम्पन्न चमचमाता जन्मोत्सव और कहाँ आज की दारिद्र्यपूर्ण पहाड़ की चढ़ाई जैसी शुष्क खोज ! खैर, यह तो काल-क्रम से प्राप्त सरस्वती-देवी की विपत्ति की कहानी है। आज के इस मँहगे वैज्ञानिक युग में सरस्वती-पुत्र काव्यपुरुष तक के जन्मोत्सव में कल्पना, और वाग्विभूति जैसी मूल्यवान् वस्तुओं को देख-भाल कर खर्च करना पड़ेगा। अतः

राजशेखर के आलङ्कारिक वर्णन से काव्यशास्त्र का जन्म कब, कहाँ, कैसे हुआ इसका समाधान न हो सकेगा। उसे छोड़ हम सीधी तरह बुद्धि व तर्क से निश्चित 'ऑपरेशन' के सभी प्रकार के औज़ार लेकर प्राचीन ग्रन्थों के किसी आवास-गृह में पहुँचें और अपने चीर-फाड़ात्मक कार्य से गुरु-गृहों में गुरु-मुख से निरन्तर श्रूयमाण किम्बदन्तियों और जनश्रुतियों का मवाद अलग कर शुद्ध तथ्य का रूप सामने लायें। और जिस समय जिस स्थान में 'काव्यपुरुष' के प्रथम दर्शन हों वही दिन वही स्थान उसकी जन्मतिथि व जन्मभूमि उद्घोषित कर दें। ऐसा करके शायद हम वैज्ञानिक होने का श्रेय प्राप्त कर सकेंगे।

भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम उपलब्ध पुस्तक ऋग्वेद है, जो शायद संसार की भी सबसे पुरानी पुस्तक होने के साथ-साथ पद्यबद्ध भी है। उसे स्वयं वेद-भगवान् 'काव्य' कहते हैं, ऐसा हमने ऊपर निर्दिष्ट किया है। भारतीय आस्तिक्य बुद्धि और निष्ठा के अनुसार वेद के अजर-अमर काव्य का कर्त्ता यदि ईश्वर को मान लिया जाय तो उसके कवि होने के लिए प्रमाण चाहिये। वेद-भगवान् हमें ऐसा ही बताते हैं कि वह—“कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः”—है। अर्थात् वह क्रान्तदर्शी, मननशील, व्यापक ओर स्वयमेव होनेवाला है। वेद ने अपनी विचित्र शैली में हमें यह भी बता दिया कि कवि का लक्षण क्या है?—वह क्रान्तदर्शी, मनन करनेवाला, व्यापक दृष्टि-सम्पन्न और 'स्वतःजात' होता है। 'निराला' के “कुकुरमुत्ते” की तरह कवि भी पैदा नहीं किये जाते, वे स्वयमेव हुआ करते हैं। जिन व्यक्तियों में इन चार मूलभूत विशेषताओं की सम्पत्ति पृष्ठभूमि के रूप में विद्यमान होती है वे ही अपनी अनुभूतियों को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं जो समान रूप से दूसरों के हृदय में भी उसी प्रकार की अनुभूतियाँ जगा सकें—अर्थात् उनमें साधारणीकरण की अलौकिक क्षमता वर्तमान रहती है। आधुनिक साहित्य-समीक्षक भी उसे कवि ही बताते हैं।

ऊपरलिखित कवि के 'काव्य' में काव्य का "व्यवहारगत रूप" और विवेचन से सम्बन्धित संकेत, दोनों ही मिलते हैं। यहाँ पर हम क्रमशः इसी का उल्लेख करते हैं :—

[क] १. निम्न मन्त्र की उपमाओं को कालिदास व अश्वघोष की उपमाओं से मिलान करके देखिये। उनकी चित्रवत् मूर्तविधायिनी क्षमता स्वतः स्पष्ट हो जायेगी—

(i) सूर्यस्येव वक्त्रो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।

वातस्येव प्रज्वो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवेवः ॥

(इन ऋषियों का तेज सूर्य के तेज की तरह, महिमा समुद्र की गहराई के समान अथाह और बल वायु-प्रवेग के समान होता है।.....)

(ii) कालिदास दिलीप का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।

(रघु० १।१२)

(सुविशाल वक्षवाला, वृष के समान स्कन्धवाला और शाल वृक्ष के समान प्रलम्बमान बाहुवाला.....)

(iii) और नन्द-वर्णन में अश्वघोष कहते हैं :—

दीर्घबाहुर्महावक्त्राः सिहांसो वृषभेक्षणः ।

(दीर्घ भुजाओं वाला, महान् वक्षवाला इत्यादि)

२. वैदिक उक्ति की वक्रता की बानगी भी इस अन्योक्ति में दर्शनीय है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नभिचाकशीति ॥

॥१:१६४:२८॥

(दो पक्षी—आत्मा और परमात्मा — मित्रभाव से मिलकर एक ही वृक्ष—जड़ प्रकृति—पर बैठे हैं। उनमें से एक—जीवात्मा—स्वादु पिप्पली को खाता है—प्रकृति का उपयोग करता है। दूसरा परमात्मा—

केवल द्रष्टा रूप से स्थित है) । इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति सम्बन्धी वैदिक त्रैतवाद का निर्देश है ।

३. प्रकृतिवर्णन में भी काव्य-दृष्टि रमणीय है । अशनिपात का आलङ्कारिक वर्णन कितना सुन्दर है :—

अपोषा अनसः सरत्संषिष्टाद्दह विम्पुषी नियत्सीं शिशनथद् वृषा ॥

॥४. ३०. १०॥

(जब वृष्टिकर्ता वायुरूपी साँड ने इस मेघ-शकट पर प्रहार किया तब उस पर स्थित शकट-स्वामिनी दामिनी भयभीत होकर संचूर्णित मेघ-शकट से भाग निकली) । यहाँ पर वेद का कवि एक शुष्क वैज्ञानिक तथ्य को काव्यमय भाषा में प्रकट करता है ।

४. आकाश के गायक मेघों के लिए भी कामना है—

सुजातासो जनुषा रुक्मवत्सो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे ॥

॥ऋ० १।१७।१॥

(कल्याणार्थ उत्पन्न ज्योतिर्मय वक्षवाले इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर हो ।)

[ख] अब काव्य-विवेचन सम्बन्धी कतिपय वैदिक संकेतों को लीजिये :—

(i).....सुबुध्न्या उपमा अस्य विष्टा.....॥यजु० १०।१६।११ ॥
(जिसके विविध स्थलों में स्थित अन्तरिक्षमय लोक-लोकान्तर उप-माभूत हैं.....) ।

(ii) यो अग्निः काव्यवाहनः पितृन्.....॥ऋ० १०।१६ ११॥

(जो कवियों के लिए हितकारी, तेजस्वी ब्रह्मचारी है.....)

(iii) विधु दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥१०।१।१५

इन उद्धृत मन्त्रों में “कवियों के लिये हितकारी काव्य और उपमा सभी मौजूद हैं ।”

वेदों के सिवाय ब्राह्मणादि ग्रन्थों में हमारे काम की सामग्री प्रायः नहीं है। हाँ, महाकाव्य-काल के रामायण और महाभारत में काव्य के सभी अङ्गों की सुन्दर परम्परा पाई जाती है। रामायण के बालकाण्ड में नव-रसों का उल्लेख मिलता है :—

रसैः शृंगारऋणहस्यरौद्रभयानकैः ॥

वीरादिभिः रसैर्युक्तं काव्यमेतद्गायताम् ॥

यद्यपि अधिकांश विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं तो भी रामायण में काव्यशास्त्र के विवचेन की सामग्री का अभाव नहीं है। आदि कवि का प्रथम छन्दोच्चारवाला उपाख्यान अवश्य ही काव्य की मूल प्रेरक शक्ति क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में है।

निशम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीसमा ।

यः क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

क्रौञ्चमिथुन में से एक का वध हो जाने पर क्रौञ्ची की वियोग-कातर अवस्था ने कवि-हृदय में वेदना का सञ्चार किया ; इस प्रकार उद्वेलित हृदय का उद्गार श्लोक-रूप में सामने आ गया। कवि स्वयमेव काव्यस्फुरण की इस घटना का पर्यालोचन कर बताते हैं कि—

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोकः भवतु नान्यथा—

सिवाय कविता के यह और कुछ भी नहीं है। दूसरों ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार किया —

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

॥ ध्वन्यालोक ॥१५५॥

काव्यालोचन के सिद्धान्तों की मूलभूत समस्या, जो भारतीय चिन्तकों को सदा सताती रही है, यही है कि काव्य की आत्मा क्या है ? सभी प्रश्न इस एक ही प्रश्न के समाधान की प्रतीक्षा में हैं। आदिकवि ने

अपनी तात्त्विक दृष्टि से इसका व्याख्यान सर्वथा मौलिक ढंग से कर दिया। यही व्याख्यान हमारे काव्यालोचन की आधारभूत भित्ति बना। इसी कारण वाल्मीकि को आदिकवि कहा गया। डा० नगेन्द्र के अनुसार उक्त व्याख्यान से निम्न काव्य-सिद्धान्त निष्कर्ष रूप से हमें प्राप्त होते हैं :—

- (i) काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है। सैद्धान्तिक शब्दावली में काव्यात्मा भाव या रस है।
- (ii) काव्य, अपने मूल रूप में, आत्माभिव्यक्ति है।
- (iii) कवि रसस्रष्टा होने से पूर्व रस-भोक्ता है।
- (iv) भावोच्छ्वास और छन्द का मूलगत सम्बन्ध है।

कहना न होगा कि उक्त चारों सिद्धान्त भारतीय काव्यालोचन के भव्य भवन के आधार-स्तम्भ बन गये हैं।

महाकाव्यों के पश्चात् शब्दशास्त्र के ग्रन्थों में भी काव्य-सिद्धान्तों का प्रासङ्गिक व्याख्यान मिलता है। यास्काचार्य ने वैदिक कोष निघण्टु और निरुक्त में सम्पूर्ण क्रियाओं का षड्भावविकारों में समाहार, शब्दों का नित्यत्व प्रतिपादन, देवताओं के भक्तिसाहचर्य-प्रकरण में छन्दों का विभाजन एवं निर्वाचन और उपमाओं का विवेचन करने के द्वारा काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसी प्रकार पाणिनि और महाभाष्यकार पतञ्जलि के व्याकरण में काव्यशास्त्र-सम्मत 'उपमित', 'उपमान' और 'सामान्य' का उल्लेख है। हमारे वैयाकरणों ने शब्दशास्त्र का जिस वैज्ञानिक प्रौढ़ता से निर्माण व सम्पादन किया है उस सबसे यही प्रतीत होता है कि काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी विवेचन उसी प्रणाली पर होता रहा होगा; क्योंकि काव्यशास्त्र शब्दविचार के अन्तर्गत ही है। इस तथ्य की स्वीकृति 'काव्य-प्रकाश' में यह कहकर—“बुधैर्धैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भा-

वित्वाच्यव्यंग्यव्यञ्जनसमस्य शब्दार्थयुगलस्य” —की है। यहाँ पर वे स्पष्टतया बताते हैं कि उन वैयाकरणों के ही मतानुसार अन्यो ने भी वाच्यार्थ को गौण बना व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञापक शब्द अर्थ दोनों को ही ‘ध्वनि’-काव्य माना है।

व्याकरण की तरह भारतीय दर्शनशास्त्र भी अपनी सूक्ष्मवीक्षण शक्ति तथा परिपूर्णता के लिए विख्यात है। प्राचीन समय में अध्ययन की परिपाटी गुरु को केन्द्र मानकर चलती थी। शिष्य अपने गुरु के दार्शनिक सिद्धान्तों का कट्टर अनुयायी होता था। इसी में उसका शिष्यत्व था। ऐसे शिष्य जब व्याकरणादि अन्य क्षेत्रों में पहुँचते थे तो वे उन शाखाओं के सिद्धान्तों की व्याख्या अपने दार्शनिक मतों के अनुकूल करते थे। इस प्रकार व्याकरणादि और दर्शन के सिद्धान्त परस्पर मँज-धुल कर गुँथे हुये हैं। सिद्धान्तों के इस परिमार्जन का क्षेत्र काव्यशास्त्र तक भी अवश्य विस्तृत हो गया होगा। इसी कारण हम बाद को भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव-गुप्त आदि को देखते हैं; ये सभी क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य और वेदान्त दर्शनों के अनुयायी थे और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाश में ही काव्यशास्त्र-सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन करते थे। अतः व्याकरण व दर्शन ग्रन्थों की शैलियों को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन पण्डित विभिन्न शास्त्रों के क्षेत्र में दिग्विजय कर अपने दार्शनिक मत की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के लिये अवश्य लालायित रहते होंगे। अतः काव्यशास्त्र में भी उनका प्रसार अवश्य रहा होगा। यह बात तब अनुमान कोटि से बढ़कर सिद्ध तथ्य तक जा पहुँचती है जब हम भरत को अपने ‘नाट्यशास्त्र’ में कृशाश्व व शिलालिन् जैसे काव्यशास्त्राचार्यों का उल्लेख करते हुए पाते हैं।

अभी तक हमने यह देखा कि काव्यपुरुष के चरणचिह्न सभी प्राचीन ग्रन्थों में अधिकता से पाये जाते हैं। परन्तु उसका मूर्त साक्षा-

त्कार भरत के नाट्यशास्त्र के रूप में ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में ही आकर होता है। तथापि काव्यशास्त्र के नाट्यशास्त्र के रूप में अनुशीलन की परिपाटी भरत से प्राचीनतर है। काव्यशास्त्र का स्व-तन्त्ररूपेण दर्शन 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि साहित्य-शास्त्र का प्रथम उपदेश शिव ने ब्रह्मा को किया, ब्रह्मा से दूसरों को मिला। और यह भी निर्देश किया कि उसके अठारह अधिकरणों के अठारह आदि-प्रवक्ता कौन-कौन थे? रस-प्रकरण के विषय में—“रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर” — कहकर रस का आदि व्याख्याता नन्दिकेश्वर को बताया है। यह बात सम्भव हो सकती है, क्योंकि नन्दिकेश्वर का उल्लेख अन्य अनेक लेखकों ने भी किया है। अभिनवभारती में अभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं—“यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वर-मतमत्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्नदृष्टं तत्प्रस्थयात्तु लिख्यते संक्षेपतः.....” अर्थात् नन्दिकेश्वर की कृति को हमने देखा नहीं है परन्तु उनके मत के विषय में कीर्तिधर को प्रमाण मान लिया है। इसी प्रकार प्राचीन अभिलेखों में ‘सुमति’ नामक किसी विद्वान् के ‘भरतार्णव’ नामक ग्रन्थ का, जो नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ के आधार पर निर्मित हुआ था, उल्लेख पाया जाता है। शारदातनय के ‘भावप्रकाशन’ में तो स्पष्टतया यह बताया गया है कि नन्दिकेश्वर ने भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का उपदेश दिया। इस सबके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त का व्याख्यान संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त प्रौढ़ एवं वयःप्राप्त प्रतीत होता है। अतः यह मान लेना कि रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन भरत के पूर्व समय से ही होता चला आया था सर्वथा तर्कसंगत है, चाहे हमारे पास एतद्विषयक नाट्यशास्त्र के सिवाय और कोई प्राचीनतर ग्रन्थ न भी हो।

इतना ही नहीं, संस्कृत के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में अनेक उद्धरण ऐसे भी हैं जिनसे भरत के पूर्व हुए अन्य अनेक आचार्यों और

उनके ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। नान्यदेव ने अपने भरतभाष्य (नाट्यशास्त्र की टीका) में मतङ्ग, विशाखिल, कश्यप, नन्दिन् और दन्तिल आदि पूर्वाचार्यों का नामोल्लेख किया है। 'काव्यादर्श' की 'हृदयङ्गमा' टीका में—“पूर्वेषां काव्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य.....” इस प्रकार से पुरातन आचार्यों का स्मरण किया गया है।

इन अवस्थाओं में राजशेखर की साक्षी के सहित नन्दिकेश्वर को आदि आचार्य माननेवाली किम्बदन्ती, भरत द्वारा कृशाश्व व शिलालिन् नामक पूर्वाचार्यों का उल्लेख और भामह व दण्डीकृत मेधाविन् व कश्यप का स्मरण इत्यादि सभी के होते हुए भी काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र को ही मानना पड़ता है; क्योंकि उक्त किम्बदन्ती, उल्लेख और स्मरणमात्र तत्तद् ग्रन्थों के अभाव में कोई विशेष सहायता नहीं कर सकते। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करके चलना पड़ेगा कि हमारा यह ऐतिहासिक अध्ययन अपूर्ण ही है।

नाट्यशास्त्र आकार व महत्त्व दोनों की दृष्टि से विशाल ग्रन्थ है। उसका मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है, काव्य नहीं। तथापि नाटक के साङ्गोपाङ्ग वर्णन के साथ प्रसङ्गवश छोटे और सातवें प्रक-भरत का नाट्यशास्त्र रण में रस का निदर्शन भी है। “विभावानु-भावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः”—यह प्रसिद्ध सूत्र भरत का ही है। सोलहवें प्रकरण में अलङ्कारनिरूपण संक्षिप्त ही है। नाट्यशास्त्र पर अनेक टीकाएँ भी हैं, परन्तु उन सबमें अभिनवगुप्त की ‘अभिनवभारती’ सर्वाधिक निद्वत्तापूर्ण है।

शैली की दृष्टि से इसमें सूत्र, कारिकाएँ और भाष्य का क्रम विद्यमान है। श्लोकों के साथ कहीं-कहीं गद्यखण्ड का भी समावेश है। यद्यपि नाट्यशास्त्र का कुछ अंश बहुत बाद का मालूम होता है तो भी कुछ भाग निश्चय ही ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से भी पूर्व का दीखता है।

सम्भव है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी प्राचीनतम कृति का विकसित रूप हो ।

नाट्यशास्त्र का कर्त्ता भरतमुनि को बताया जाता है । डाक्टर कारे का अनुमान है कि नाट्यशास्त्र किसी भरत नाम के व्यक्ति ने नहीं अपितु भरतों (नटों) ने संगृहीत कर नटों के कुल को महत्त्व प्रदान करने के लिए महामुनि के नाम से विख्यात कर दिया । यह तो कह ही चुके हैं कि नाट्यशास्त्र की रचना विभिन्न प्रकार का है । अतः यह स्पष्ट है कि वह अनेक प्रकार से अनेक समयों में अनेक आचार्यों द्वारा सम्पादित होता रहा है । इस प्रकार उसका रचनाकाल ई० पू० २०० मे लेकर ई० पू० ३०० तक निर्धारित होता है ।

काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थों में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही प्राचीनतम है—इस स्थापना के विपरीत कुछ लोग अग्निपुराण को सामने लाते हैं और 'काव्यप्रकाशादर्श' में से महेश्वर के इस कथन को उद्धृत करते हैं—“गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसा-स्वादकारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः सञ्क्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान् ।” परन्तु अग्निपुराण को देखने से ज्ञात होता है कि वह भामह, दण्डी, और ध्वन्यालोक आदि से भी अर्वाचीन है । उसमें ध्वनि-सिद्धान्त का उल्लेख होने से ही यह बात स्पष्ट है ।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात् ईसा की सातवीं व आठवीं शती में भामह और दण्डी दो प्रमुख आचार्य हुए । बीच के काल में काव्यशास्त्र-विषयक प्रगति का इतिहास अभी तक अन्धकार में ही है । परन्तु इतना निश्चित है कि इस समय भी काव्यशास्त्रानुशीलन की परिपाटी का क्रम यथापूर्व जारी था । भामह ने अपने से पूर्व हुए आचार्यों के ग्रन्थों का निर्देश किया है—“इति निगदितास्तास्ता वाचाम-लङ्कृतयो मया बहुविधिकृतीदृष्ट्वान्येषां स्वयं परितर्क्य च...” इत्यादि । मेघाविन् नाम के आचार्य का तो उसने दो बार उल्लेख किया है और

उसके बताये हुए उपमा-दोषों की गणना की है —“त एत उपमादोषाः सप्तमेधाविनोदिताः ।” परन्तु मेधाविन् के ग्रन्थ की उपलब्धि न होने से उनके विषय में आगे कुछ नहीं कहा जा सकता ।

इसके अतिरिक्त ईसा की छठी शताब्दी में दो ऐसे ग्रन्थ निर्मित हुए जो वास्तव में काव्यशास्त्र-विषयक नहीं; फिर भी उनमें साहित्य-विवेचन को स्थान दिया गया है । विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने तृतीय खण्ड में प्रायः नाट्यशास्त्र का अनुकरण करते हुए नाट्य और काव्य का विवेचन किया है । इसी प्रकार भट्टिकाव्य, जो व्याकरण का ग्रन्थ है, में भी काव्य-विवेचन पाया जाता है ।

इतने से निम्न दो बातों का पता चलता है :—

- (i) इस समय काव्यशास्त्र का महत्त्व पूर्णतया प्रतिष्ठित था, जिसके कारण उसको पुराणों और व्याकरण-ग्रन्थों में भी स्थान दिया गया ।
- (ii) भरत के नाट्यशास्त्र को अपने विषय का प्रमाण-कोटि का ग्रन्थ माना जाता था, इसीलिए उसे विष्णुधर्मोत्तर पुराण के कर्ता ने आधार बनाया ।

भरत ने रस का उल्लेख वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में किया है । अतः ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती कतिपय आचार्यों ने रस को नाटक तक ही सीमित समझा । इसीलिए हम देखते हैं कि भामह यद्यपि रस-सिद्धान्त से पूर्णतया परिचित थे तो भी उन्होंने काव्यात्मा अलङ्कार को ही स्वीकृत किया । भामह का समय षवीं शताब्दी माना जाता है । इस प्रकार भामह रस-विरोधी प्रथम आचार्य हुए, जिन्होंने ‘अलङ्कार-सम्प्रदाय’ की स्थापना की । हम देखेंगे कि भामह के अनुयायी दण्डी, उद्भट और रुद्रट हुए जिन्होंने उनके मत का अनुसरण किया । आचार्य भामह ने अलङ्कार शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए रचना एवं कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा । उनके मत में वक्रोक्ति (काव्या-

त्मक अभिव्यञ्जना), जो अलंकार के मूल में रहती है, से रचना और कल्पना दोनों के सौन्दर्य की वृद्धि होती है। भामह ने रसों को रसवत्, प्रेयस् और ऊर्जस्वित् अलंकारों में समाहित किया है। भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति ही काव्यात्मा है और सभी अलंकारों के मूल में वह रहती है। वक्रोक्ति से भिन्न प्रणाली स्वभावोक्ति है; पर उसमें काव्यत्व नहीं है। भामह का ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है।

दण्डी का काल सातवीं शती बताया जाता है। इन्होंने वैदर्भी और गौडी नामक दो रीतियों, दस गुणों और पैंतीस अलंकारों का कथन किया है। दण्डी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है जो रीति-सम्प्रदाय और अलंकार मतों के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि दण्डी ने भरत का अनुसरण करते हुए काव्याङ्गों के विवेचन को ही महत्त्व दिया, जब कि भामह ने अलङ्कार-सम्प्रदाय का मण्डन किया। दण्डी ने रसों को भामह की ही तरह अलङ्कारों में समाहित किया है। परन्तु रसवर्णन है विस्तार से। दण्डी का रीति और गुण-विषयक दृष्टिकोण निम्न प्रकार है :—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।

तत्र वैदर्भ-गौडीयौ वगर्थेते प्रस्फुटान्तरौ ॥

वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।

एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'अलङ्कारसारसंग्रह' के रचयिता आचार्य उद्धट हुए। यद्यपि ये भामह के मतानुयायी थे तो भी अलङ्कार-सम्प्रदाय में इनके आचार्यत्व का प्रामाण्य सर्वोपरि है। अतएव इनके विरोधी आचार्यों तक ने इनका उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया है। अर्थ, श्लेष, संघटना आदि से सम्बद्ध इनके स्वतन्त्र सिद्धान्त हैं जिनका उल्लेख परवर्ती आचार्य इनके नाम से कर गये हैं।

इनके ग्रन्थ 'अलङ्कारसारसंग्रह' में ६ वर्ग और ७६ कारिकाएँ

मन के उत्कर्ष या अतिशय की अभिव्यक्ति का साधन वाणी के अलंकार हैं। मन के उत्कर्ष का आशय है भावोद्दीप्ति की अवस्था। जब हमारे भाव उद्दीप्त हो जाते हैं तो शरीर के रोम-रोम में आवेग या अतिशय प्रस्फुटित होने लगता है। यही आवेग वाणी के माध्यम में अलंकारों का रूप धारण कर लेता है। सारांश यह है कि भावोद्दीपन के कारण हमारी वाणी स्वाभाविक रूप से अलंकृत (अतिशयित) हो जाती है; क्योंकि ऐसा करने से भीतर के मानसिक विस्फार या अतिशय का बाह्य रूप से प्रदर्शन हो जाता है, जिससे हमें तुष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, भामह और दण्डी का यह अभिमत कि अलंकारों का प्राण अतिशयोक्ति है, ठीक है। यही तथ्य 'काव्यप्रकाश' में भी स्वीकार किया गया है—

“सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेमावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्।”

अलंकारों के विकास को देखते हुए यह मालूम पड़ता है कि उनकी विषम-सीमा तथा संख्या सर्वथा अनिश्चित-सी है। भरत ने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है, जबकि मम्मट ने यह संख्या ७० तक पहुँचा दी। ऐसी अवस्था में अलंकारों में समन्वय के सूत्र की खोज सर्वथा स्वाभाविक थी। इस दिशा में सर्वप्रथम रुद्रट ने अलंकारों का वर्गीकरण वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर किया। यद्यपि रुद्रट का यह वर्ग-विभाजन सर्वथा वैज्ञानिक नहीं था तो भी उनका प्रयत्न एक सुष्ठु दिशा का निर्देशक बन सका। बाद में रुय्यक ने अलंकारों के सात वर्ग बनाये:—

- [१] सादृश्यमूलक (उपमा, रूपक आदि)।
- [२] विरोधमूलक (विरोध, विभावना आदि)।
- [३] शृङ्खलाबन्धक (कारणमाला, एकावली आदि)।

[४] तर्कन्यायमूलक (काव्यलिङ्ग, अनुमान आदि) ।

[५] काव्यन्यायमूलक (यथासंख्य, पर्याय आदि) ।

[६] लोकन्यायमूलक (प्रत्यनीक, प्रतीप आदि) ।

[७] गूढार्थप्रतीतिमूलक (सूक्ष्म, व्याजोक्ति आदि) ।

ये अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं ।

विश्वनाथ और विद्याधर ने इनमें कुछ संशोधन करने का यत्न किया । और अब भी आधुनिक विद्वान् इस दिशा में प्रयत्नशील हैं । सुब्रह्मण्यं शर्मा और श्री ब्रजरत्न जी ने क्रमशः आठ और पाँच वर्ग निश्चित किये हैं । परन्तु वर्गीकरण के ये सभी प्रयत्न सन्तोषजनक सिद्ध न हो सके । इस असफलता का कारण यह समझा जा सकता है कि अलंकारों के स्वरूप-निर्धारक उपादानों का क्षेत्र ही अपने आपमें विविध विषयक एवं असीमित है । उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि कुछ अलंकार काव्य-शैली से सम्बन्ध रखते हैं तो दूसरे तर्क और न्याय का आश्रय लेते हैं ।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में विवेचन करते हुए, अलंकारों का प्रयोग किसलिए करते हैं, इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि—“उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए ।” उनके मत में उक्ति को प्रभावशाली बनाने के छः प्रकार हैं—स्पष्टता के लिए साधर्म्य, विस्तार के लिए अतिशय, आश्चर्य के लिए वैषम्य, अन्विति के लिए औचित्य, जिज्ञासा के लिए वक्रता और कौतूहल के लिए चमत्कार-मूलक अलंकारों का प्रयोग । तदनुसार—“अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं ।”

यह बात स्पष्ट है कि अलंकारों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती ; क्योंकि उनके उपादानों का क्षेत्र ही असीमित है—(अनन्ता हि वाग्विकल्पाः । तत्प्रकारा एव अलंकाराः—ध्वन्यालोक ।) ऐसी अवस्था में वर्गीकरण के लिए सर्वथा युक्तियुक्त और परिपूर्ण आधारों को

खोज निकालना एक प्रकार से असंभव ही है। और यदि वे आधार भी अलंकारों की संख्या की तरह अनिश्चित होते चले जायें तो उनका ढूँढ़ना ही निष्प्रयोजन है। इन कारणों से वर्गीकरण के सभी प्रयत्न असन्तोषजनक हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इस दिशा में हमारी जिज्ञासा की सन्तुष्टि का एकमात्र यही आधार हो सकता है कि अलंकारमात्र के मूल में भावोद्दीप्ति या अतिशय ही रहता है। आद्याचार्य भामह और दण्डी ने भी इतने से ही सन्तोष किया था।

अलंकारों का प्रयोग किसलिए करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।

**काव्य में अलंकारों
का स्थान**

प्रभावोत्पादन की आवश्यकता काव्य में ही नहीं अपितु व्यवहार में भी रहती है। सर्वसाधारण लोग भी अपने रात-दिन के काम-काज में अपनी वाणी को सबल बनाने के लिए अलंकारों का प्रयोग करते हैं। किसी लीडर की प्रशंसा में—“आप मनुष्य नहीं देवता हैं”। ऐसा कहा ही जाता है। इसी प्रकार “साम्राज्यवाद की चक्की में देश पिस रहा था” आदि वाक्य पार्टी-प्रोपेगण्डा के सिलसिले में अक्सर कान में पड़ते रहते हैं।

परन्तु इसके आगे, काव्य में अलंकारों का प्रयोग क्यों किया जाता है, जब यह प्रश्न सामने आता है तो केवल “प्रभावोत्पादन के लिए” इतना भर कहना पर्याप्त नहीं। प्रभावोत्पादकता की खोजबीन भी आवश्यक हो जाती है। अलंकारों के द्वारा काव्य में बहुत कुछ सिद्ध होता है। सौन्दर्य काव्य में खास वस्तु है। चित्रण को स्पष्टता देने की भी आवश्यकता पड़ ही जाती है, इत्यादि। अतः हमें कहना पड़ेगा कि अलंकारों के द्वारा काव्य में सौन्दर्य, स्पष्टता और प्रभावोत्पादन आदि सभी की अभिवृद्धि लक्ष्य रहता है। शुक्ल जी अलंकारों का लक्षण करते हुए उनके प्रयोग के क्षेत्र की विविधता की ओर निर्देश करते हैं—

“वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी-कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहाते हैं।” अब एक उदाहरण लेते हैं:—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।

अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः ॥

“सन्ध्या (या नायिका) लालिमा (पक्षान्तर में अनुराग या प्रीति) से युक्त है और दिवस (अथवा नायक) उसके सामने ही बढ़ा आ रहा है (सामने आ रहा है), पर ओहो ! दैवगति कैसी है कि फिर भी उनका मिलन (समागम) नहीं होता।”

यहाँ समासोक्ति अलंकार के द्वारा अप्रस्तुत जो नायक-नायिका-गत व्यवहार प्रतीत होता है उसके कारण उक्ति में सौन्दर्य आ गया है। और समान विशेषणों की महिमा से नायक-नायिका की विरह-गति मूर्त हो उठी है, जिससे चित्र में स्पष्टता आ गई है।

इसी प्रकार सूर्योदय के दो प्रसिद्ध चित्र अपनी नवस्फूर्तिमयी उद्बोधक आभा बिखेरने के कारण प्रशंसनीय हैं :—

सखि ! नील नभस्सर में उतरा

यह हंस अहा ! तरता-तरता,

अब तारक मौक्तिक शेष नहीं

निकला जिनको चरता-चरता।

अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,

चलता उनको धरता-धरता

गड़ जायँ न कण्टक भूतल के
कर डाल रह डरता-डरता ।

—मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ श्लिष्ट-परम्परित-रूपकालंकार ने प्रातःकालीन सूर्य में राजहंस की सम्पूर्ण शोभा सञ्चित कर दी है ।

बीती विभावरी, जाग री
अम्बर पनघट में डुबा रही,

तारा-घट ऊषा-नागरी । —जयशंकरप्रसाद

रूपक अलंकार के सामर्थ्य से ऊषा ने जो विदग्ध-सुन्दरी का रूप धारण कर लिया है उससे सम्पूर्ण वातावरण सजीव हो उठा है, और प्रातःकालीन कलरव स्पष्ट सुनाई देता है ।

अलंकार की प्रभावोत्पादकता इस बात में होती है कि वह कवि के भावों को श्रोता के मन तक कितने वेग से प्रेषणीय बना देता है । श्रोता के मन में भी कवि के भाव उतनी ही तीव्रता से उबाल खा जायँ इसके लिए वस्तु का 'बिम्ब-ग्रहण' कराना होगा । यह कार्य भी अलंकारों द्वारा बड़ी उत्तमता से सम्पन्न होता है, जैसे:—

नव प्रभा-परमोज्ज्वल लीक सी,

गतिमती कुटिला फणिनी समा ।

दमकती दुरती धन अंक में,

विपुल केलि कला खानि दामिनी ॥—हरिऔध

'दमकती दामिनी' का बिम्ब 'गतिमती-कुटिला-सर्पिणी' के द्वारा श्रोता के मानस-पटल पर विद्युत्पाति से ही चमक उठता है, क्योंकि दामिनी की तरह सर्पिणी भी कुटिल-गति-धर्मा और आतंक-परि-पूर्णा है ।

उक्त विवेचन के साथ-साथ यह प्रश्न भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्या काव्य में अलंकार अनिवार्य हैं ?

कलापक्ष को ही प्रधान्य देने वाले अलंकार-साम्प्रदायिकों की तो मान्यता है कि काव्य में अलंकार आवश्यक क्या काव्य में अलंकार है; उनके बिना काव्यत्व सम्भव नहीं। अर्थात् अनिवार्य हैं? अलंकार काव्य के नित्य-धर्म ही हैं। जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में साग्रह प्रश्न किया—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ?

रस-भावादि का तत्त्व समझने वाले आचार्यों के लिए इसका उत्तर स्पष्ट था। उन्होंने न केवल अलंकारों का ही, अपितु अलंकार्य (रस) का भी पता पा लिया था। भाव के अभाव में वे किसी प्रकार भी काव्यत्व नहीं स्वीकार कर सकते। क्या लोक-व्यवहार में पाई जाने वाली लच्छेदार और अलंकृत बातचीत काव्य कही जा सकती है? क्या मुर्दे को अलंकार धारण करवाकर सजीवता प्रदान की जा सकती है? यदि नहीं, तो रस-भाव रूप आत्मा के बिना काव्यत्व कैसे! वह भी असम्भव है—“तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात् (अभिनवगुप्त)।”

काव्यत्व का मूल कारण अलंकारत्व नहीं, इस तथ्य को दूसरी तरह भी कह सकते हैं। सच्चे कवि में प्रतिभा होती है—“प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकरणम्” (अलंकारतिलक)। इसके बल पर वह [१] पदार्थ में निहित गूढ़ सौन्दर्य को देखता है और [२] उस असामान्य सौन्दर्य का उद्घाटन कर सर्वसाधारण तक पहुँचाता है, अर्थात् उसे प्रेषणीयता प्रदान करता है। डा० कार्णे ने भी लिखा है—“A poet is one who is seer, a prophet, who sees visions and possesses the additional gifts of conveying to others.” (साहित्यदर्पण की भूमिका)। जब कवि गूढ़ सौन्दर्य का दर्शन कर चुकता है तो वही सौन्दर्य वाग्धारा-रूप में प्रवाहित

होने लगता है। यदि सौन्दर्य की अनुभूति न हो तो प्रवाहित ही क्या किया जा सकता है—यह सर्वथा स्पष्ट है। अतः काव्य के मूल में सर्व-प्रथम सत्य, सौन्दर्य, अनुभूति या भाव ही होता है। यही काव्य का प्राण है। इसी से काव्य में सजीवता आती है। सद्-भाव से प्राणवान् काव्य को अलंकार सजा सकते हैं, उसकी शोभा को बढ़ा सकते हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं।

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रस का उल्लेख भरत ने वाचिक अभिनय के रूप में किया है। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि

परवर्ती कतिपय आचार्यों ने उसका सम्बन्ध

अलंकार-सम्प्रदाय का नाटक तक ही सीमित समझा। अतः हम

इतिहास

देखते हैं कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में भामह

और दण्डी आदि जो आचार्य हुए, यद्यपि वे

रस-सिद्धान्त से परिचित थे तो भी उन्होंने अलंकार को काव्यात्मा स्वीकार किया। यद्यपि भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में चार अलंकारों—उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया है तो भी अलंकारों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक विवेचन भामह के काव्यालंकार में ही मिलता है। इस प्रकार भामह अलंकार-सम्प्रदाय के आद्याचार्य हुए। परन्तु एक बात ध्यान में रखने की है; भामह का अलंकार सम्बन्धी विवेचन इतना प्रौढ़ है कि अलंकारों के विवेचन की परम्परा इनसे पहिले की चली आती हुई प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र में 'अलंकार' तो हैं ही, भामह ने स्वयं भी मेधाविन् नामक पूर्वाचार्य का सादर उल्लेख किया है। इसी प्रकार भट्टिकाव्य, जो एक व्याकरण का ग्रन्थ है, में भी ३८ अलंकारों का उल्लेख है। यह भी भामह से पहले का ग्रन्थ है। इन सब बातों से उक्त धारणा की पुष्टि सम्यक्तया होती है।

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने अलंकारों के ऊपर 'काव्यादर्श' की रचना की। दण्डी की विशेषता यह है कि उन्होंने—“काव्यशोभाकरान्

धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते”—कहकर अलंकारों को असन्दिग्ध रूप में काव्य का शोभाविधायक माना। भामह ने ३८ अलंकारों का तथा दण्डी ने ३५ का उल्लेख किया। परन्तु रसों को दोनों आचार्यों ने रसवत्, प्रेयस, ऊर्गस्वित और समाहित नामक अलंकारों के अन्तर्गत माना। यद्यपि ये आचार्य रस-सिद्धान्त से परिचित थे तो भी काव्यमात्र में रस का उचित स्थान निर्धारित नहीं कर सके। उन्हें काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण अलंकार ही प्रतीत हुए। अतः उन्होंने रस को अलंकारों के अन्तर्गत लाने की चेष्टा की। उनके अनुसार रसवदलंकारों का कोष्ठक निम्न है :—

रसवदलं- कार	{	[१]	जहाँ रस परिलक्षित होते हैं वहाँ रसवदलंकार होता है।
		[२]	जहाँ भाव " " प्रेयस अलंकार " "
		[३] जहाँ	रसाभास " " ऊर्गस्वित " "
			भावाभास
	{	[४] जहाँ	{ भावशान्ति भावोदय भावसन्धि " " समाहित " " भावशबलता

ध्वनिवादियों ने रसवदादि अलंकारों के सम्बन्ध में यह संशोधन किया कि जहाँ रस (रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस, भाव, तदाभास और भावशान्त्यादि चारों रस कहाते हैं) किसी अन्य के अंग रूप में प्रतीत होते हैं वहाँ पर ही रसादि (ध्वनि रूप न होकर) रसवदलंकार के अन्तर्गत है, सर्वत्र नहीं। अस्तु !

भामह ने अलंकार शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए रचना एवं कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा। उनके मत में वक्रोक्ति (काव्यात्मक अभिव्यञ्जना), जो अलंकार के मूल में रहती है, से रचना और कल्पना दोनों के सौन्दर्य की समृद्धि होती है—

सैवा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना । काव्यालंकार
परन्तु भामह के विपरीत दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय
को अलंकार की आत्मा कहा—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।

वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम् ॥ काव्यादर्श ॥

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि दण्डी का अतिशय
और भामह की वक्रोक्ति एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं ।

भामह के मत के प्रमुख व्याख्याता उद्धट हुए । इन्होंने ‘भामह-
विवरणा’ लिखा और दृष्टान्त, काव्यलिंग आदि अलंकारों की
उद्भावना की । इसके बाद आचार्य रुद्रट् हुए । इन्होंने अत्यधिक
महत्त्व के कार्य किये—[१] एक तो अलंकारों के वर्गीकरण की परि-
पाटी डाली और दूसरे [२] रस और भाव आदि को अलंकारों के
अन्दर ही समाहृत करने की प्रमुख भूल का निराकरण किया । इन्होंने
अपने समकालीन विभिन्न मतों का अच्छा अध्ययन भी किया था । ये ही
सर्वप्रथम आचार्य हुए जिन्होंने ‘रस’ का विवेचन काव्यशास्त्र के ग्रन्थों
में किया । इससे पूर्व के ग्रन्थकार रस को नाटक का विषय मानकर
छोड़ देते थे ।

अलंकार-सम्प्रदाय के पीछे अभी तक यह दृष्टि रही कि काव्य को
चमत्कृत करने वाली सभी विशेषताओं का संग्रह किया जाए । उन
विशेषताओं में परस्पर भेद करने की चेष्टा नहीं की गई और ना ही
सूक्ष्मता से यह देखा गया कि काव्य और प्रसाधन-सामग्री का सम्बन्ध
क्या है । परन्तु रुद्रट् के पश्चात् ध्वनि के आत्मा-रूप में सामने आने
पर यह स्पष्ट हो गया कि आन्तरिक गुणों और बाह्य आभूषणों में
भेद होता है । इसलिए माधुर्यादि गुणों तथा उपमादि अलंकारों में भेद
है । इसके साथ यह भी मालूम हो गया कि अलंकारों के अन्तर्गत सभी

प्रसाधनों को समाहृत करने की चेष्टा व्यर्थ है। शब्द और अर्थ की शोभा की वृद्धि करने वाले उपाय ही अलंकार हो सकते हैं; गुण अलंकार नहीं। इससे पूर्व अलंकारवादी गुण और अलंकारों को एक ही समझते थे—
 “उद्भटादिभेस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।”

इस सबका परिणाम यह हुआ कि अलंकारों की स्थिति के सम्बन्ध में यह निश्चित मत कि वे काव्य के अनिवार्य अंग नहीं हैं, स्पष्ट हो गया। और इसके बाद परवर्ती आचार्यों ने ऐसा ही सम्पुष्ट किया। आचार्य मम्मट व विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से उद्धोषित किया कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं। वे रस के उपकारक होकर ही महत्त्व पा सकते हैं।

अन्त में रुय्यक ने ‘अलंकारसर्वस्व’ की रचना की, जिसमें अलंकारों के वर्गीकरण का परिष्कार करते हुए नए ढंग से छः आधार ढूँढे।

हिन्दी को अलंकारशास्त्र की मम्मट और विश्वनाथ वाली समन्वित परम्परा ही मिली, जिसमें इसका महत्त्व सर्वोपरि सुस्थिर हो चुका था। तो भी केशव-जैसे अलंकारवादी हिन्दी में मिल ही जाते हैं—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन, सरस सुवृत्त ।

भूषन बिन न बिराजहीं, कविता, वनिता, मित्त ॥

— — —

रीति-सम्प्रदाय

‘रीति-सम्प्रदाय’ के प्रमुख व्याख्याता वामन हुए हैं। उन्होंने ‘काव्या-लंकारसूत्र’ की रचना की, जिसके अनुसार ‘रीति’ को काव्यात्मा माना गया। रीति के स्वरूप-निर्धारक सूत्र निम्न वामन द्वारा प्रतिपादित प्रकार हैं:—

रीति का स्वरूप (i) रीतिरात्मा काव्यस्य ॥२।६॥
और लक्षण काव्यात्मा रीति है, अर्थात् काव्य-सौन्दर्य का मूल कारण ‘रीति’ है।

रीति क्या है ?

(ii) विशिष्टा पदरचना रीतिः ॥१।२।७॥

विशिष्ट पदरचना ही रीति (आधुनिक शब्दावली में शैली कह सकते हैं) है। पदरचना में वैशिष्ट्य कैसे आता है ?

(iii) विशेषो गुणात्मा ॥१।२ द॥

पद-रचना का वैशिष्ट्य उसकी गुणात्मकता में है। अतः गुणात्मक पदरचना का नाम ‘रीति’ है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदरचना का वैशिष्ट्य विभिन्न गुणों के संश्लेषण के आश्रित है। इसलिए गुणों की खोज भी आवश्यक है। गुणों के साथ दोषों का लेखा-जोखा लगा ही रहता है। गुणों के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य है:—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।

तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥

काव्य की शोभा के विधायक-धर्म ‘गुण’ हैं; और उस शोभा के वृद्धिकारक हेतु अलंकार होते हैं। अतः गुणों और अलंकारों में स्पष्ट

रूप से भेद है। गुण नित्य-धर्म हैं और अलंकार अनित्य, क्योंकि अकेले गुण पदरचना में वैशिष्ट्य ला सकते हैं, परन्तु केवल अलंकार नहीं।

इस प्रकार उन्होंने गुणों को नित्य मानकर शब्द और अर्थ के क्रमशः दस-दस गुण बताये; शब्द-गुणों और अर्थ-गुणों के नाम एक ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न— ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति। इन गुणों के विरोध में आने वालों को दोष माना। उन्हें वे गुणों का विपर्यय कहते हैं— “गुणविपर्यात्मनो दोषाः”। अर्थात् उन्होंने दोषों की कोई भावात्मक स्थिति स्वीकार नहीं की। गुणों के अभाव को वे दोष मानते हैं।

रीतियाँ भी तीन हैं— (१) वेदभी (२) गौड़ी (३) पाञ्चाली। वामन के अनुसार वेदभी में दसों गुणों का समावेश रहता है, जबकि गौड़ी और पाञ्चाली में क्रमशः ओज व कान्ति और माधुर्य व सौकुमार्य इन दो-दो गुणों का महत्त्व है। रीतियों के नामकरण के विषय में लिखते हुये वह इस शंका का निवारण भी कर देते हैं कि प्रदेशविशेष से काव्य का वैसा सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है:—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात्तत्समाख्या ॥१।२।१०॥

केवल विदर्भादि देशों में वैसी रीति का विशेषतया प्रचलन होने के कारण उस प्रकार का नाम रखा गया है। —“विदर्भगौड़पाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वाद्देशसमाख्या। न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।”—वृत्ति ॥

संक्षेपतः वामनाचार्य का मन्तव्य यह है कि काव्य के सौन्दर्य का मूल कारण रीति है; और रीति पदरचना का वह प्रकार है जिसमें दोषों का अभाव, अलंकारों का सामान्यतया प्रयोग और गुणों का अनिवार्यरूपेण समावेश हो। तो, वामनाचार्य का प्रधान कर्तृत्व निम्न प्रकार हुआ:—

- (i) इन्होंने साहस के साथ रीति को काव्यात्मा उद्घोषित किया, और तीन रीतियाँ मानीं, जो परवर्ती आचार्यों द्वारा भी स्वीकृत की गई ।
- (ii) इन्होंने गुणों और अलंकारों में भेद प्रतिपादित किया ।
- (iii) दोषों की भावात्मक सत्ता स्वीकार नहीं की । इसे परवर्ती आचार्यों ने अमान्य ठहराया ।
- (iv) वक्रांक्ति को अर्थालंकारों में शामिल किया ।
- (v) वामन द्वारा रीति के प्रतिपादन से स्पष्ट होता है कि उनकी पहुँच प्रधानतया काव्य के बाह्याङ्ग तक ही रही । परन्तु अन्तरङ्ग सर्वथा अछूता रहा हो, सो नहीं । क्योंकि उन्होंने अर्थ-गुण कान्ति मे रस की दीप्ति अनिवार्य मानी है— “दीप्तरसत्वं कान्तिः” ॥३।२।१४॥

आचार्य वामन ने अपने ‘काव्यालंकारसूत्र’ ग्रन्थ का प्रणयन ८वीं शताब्दी में किया । इससे यह न समझना चाहिए कि रीति-विषयक विचार का श्रीगणेश यही से प्रारम्भ होता है ।

रीति-सम्प्रदाय का इतिहास वस्तुतः रीति की परम्परा रस और अलंकार सम्प्रदायों की तरह ही पुरातन काल से चली आने वाली है । वामन ने तो रीति को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार कर प्रथम कोटि का महत्त्व प्रदान करना चाहा । ‘रीङ्’ धातु से ‘क्ति’ प्रत्यय करने पर “रीति” शब्द सिद्ध होता है । इसका अर्थ हुआ—गति, पद्धति, प्रणाली या मार्ग आदि । इस ‘रीति’ शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया है; दूसरे आचार्य मार्ग आदि शब्दों द्वारा रीति का प्रतिपादन करते रहे । जैसे दण्ड ने—

अस्त्यनेकां गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।

तत्र वैदर्भगौड़ीयौ वार्येते प्रसुदुःतरौ ॥ काव्यादर्श ॥

वामन-मतानुसार गुण, रीति के मूल तत्त्व । दण्डी की भी यही मान्यता थी । इन गुणों का विवेचन तो भरत के नाट्यशास्त्र में मौजूद है, परन्तु रीति के विषय में उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा । भरत की दृष्टि में दोषाभाव रूप दस गुण होते हैं । इस प्रकार के दोषों के अभाव से दस गुण माने; उनकी सत्ता अभावात्मक है । गुण और दोषों के सम्बन्ध में भरत और वामन का दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत है । भरत दोषों को भावात्मक (Positive) मानते हुए गुणों को अभावात्मक (Negative) मानते हैं । जबकि वामन का मत है कि दोष अभावात्मक हैं और गुण भावात्मक । परन्तु विचार करने पर गुण और दोष दोनों की ही भावात्मक सत्ता मान्य ठहरती है । गुणों का अभाव होने से दोष नहीं गिनाये जा सकते और न ही दोषों के न होने से गुणवत्ता दीखती है । लोक में भी गुण-दोषों, दोनों की भावात्मक सत्ता स्वीकृत है । इसी विचार से परवर्ती आचार्यों ने गुणों और दोषों दोनों को भावात्मक माना । दोषों की संख्या बढ़ते-बढ़ते सत्तर तक पहुँची । अस्तु !

भरत का गुण-विषयक श्लोक यह है:—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥

—नाट्यशास्त्र ॥

भरत ने शब्द-गुणों तथा अर्थ-गुणों की पृथक्ता के सम्बन्ध में भी कोई निर्देश नहीं दिया । इनके बाद भामह ने रीति का उल्लेख तो किया परन्तु उसे कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया । उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व प्रतिपादित करते हुए गुणों की संख्या—माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन के ही अन्तर्गत सीमित कर दी । बाद को ये ही तीन गुण भारतीय काव्यशास्त्र में प्रामाणिक रूप से प्रतिष्ठित हुये ।

दण्डी ने रीति का विस्तृत विवेचन वैदर्भ और गौड़ इन दो मार्गों के रूप में किया, पर अलंकारों और गुणों में स्पष्ट भेद न कर सके, तथा

दस गुणों को प्रायः भरत के अनुकरण में ही स्वीकार कर लिया। इस-लिए भरत की तरह दण्डी का गुण-विवेचन भी अस्पष्ट ही रहा। शब्द-गुणों और अर्थ-गुणों का भेद भी इन्होंने नहीं किया। इसके अतिरिक्त इनका यह भी ख्याल था कि वैदर्भ-मार्ग या रीति के दसों गुण मूल तत्त्व होते हैं; और उन गुणों का अभाव गौड़ीय रीति में पाया जाता है।

वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।

एषां विषयेयः प्रायो दृश्यते गौडवर्मनि ॥

परन्तु दण्डी का यह विचार उचित नहीं, क्योंकि ओज गुण वैदर्भी रीति के गद्य में तो आवश्यक है परन्तु पद्य में नहीं जबकि गौड़ीय मार्ग में ओज पद्य में भी सर्वोपरि स्थान रखता है। दण्डी ने दोषों की संख्या भी भरत की तरह दस मानी है। भामह के ग्यारहवें दोष को उन्होंने अव्यक्त माना।

आचार्य वामन अपने मन्तव्य को साहस और स्पष्टता के साथ कहना जानते थे। अतएव ये स्वतन्त्र रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हो सके। भरत और दण्डी के अनुकरण का पल्ला न पकड़कर इन्होंने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को तर्क का सहारा दिया। दो की जगह तीन रीतियाँ मानीं। गुण और अलंकारों में भेद कर गुणों का स्पष्ट विवेचन किया। शब्द और अर्थ के दस गुण माने, जिनका नाम दोनों जगह एक ही है, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न होता है। इस दृष्टि से वामन का कर्तृत्व क्रान्तिकारी था। उन्होंने अन्य आलंकारिकों की तरह 'रस' को अलंकारों के अन्तर्गत समाविष्ट न कर अर्थ-गुण कान्ति में रखा। यद्यपि परवर्ती आचार्यों को वामन के मत में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ मालूम हुईं तो भी काव्य-ब्राह्मण के विवेचन और स्वतन्त्र उद्भावनाएँ करने की उनकी प्रवृत्ति का लोहा स्वीकार करना ही पड़ता है।

वामन की तीन रीतियों के साथ रुद्रट ने चौथी 'लाटी' रीति

को भी लाकर खड़ा किया. परन्तु इसका विशेष महत्त्व न जँचा। इसके पश्चात् ध्वनिवादियों के तर्कों ने 'अलंकार्य' और 'अलंकार' का स्पष्ट भेद उपस्थित कर सोचने की धारा को ही बदल दिया। अलंकार्य (काव्यात्मा-रूप ध्वनि) की सर्वोपरि महत्ता स्थापित होने से रीति-सम्प्रदाय भी, अलंकार-सम्प्रदाय की तरह बाह्याङ्गदर्शी-मात्र होकर "उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः (साहित्यदर्पण)" के अनुसार रसोत्कर्ष के हेतुओं की कोटि में जा पड़ा। ध्वनिवादियों ने रीति को बाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए "वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु" कहा। रीति की केवल इतनी ही उपयोगिता मानी गई कि वह रस-परिपाक में सहायक होती है। अभिनवगुप्त ने तो अलंकारों और गुणों के रहते रीति की पृथक् सत्ता को ही अनावश्यक ठहराया। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादियों ने दस गुणों के स्थान पर भामह की तरह तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद—ही पर्याप्त समझे। हाँ गुणों का महत्त्व इसलिए अवश्य कायम रहा कि वे काव्यात्मा (रस) के नित्य अङ्ग माने गये।

आचार्य कुन्तक ने भी काव्य को कवि-प्रतिभा-जन्य बताते हुये रीति-विभाजन और रीतियों में कोटि-क्रम-निर्धारण, दोनों को असंगत माना। उनकी दृष्टि से रीति केवल कवि-कर्म का ढंग है, और वह ढंग रचना के गुणों के अनुसार दो प्रकार का—सुकुमार और विचित्र—हो सकता है। उक्त दोनों प्रकारों के चार गुण—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य—मूलतत्त्वों के रूप में स्वीकार किये। इसके अतिरिक्त 'शौचित्य' एवं 'सौभाग्य' ये दो गुण तो काव्यमात्र में होने चाहियें। कुन्तक के विवेचन में 'बदतो-व्याघात' का दोष प्रतीत होता है। जिस बात के लिए वे वामन को दोषी ठहराते हैं, वही दोष उनके मत में मालूम होता है।

अन्त में संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के समाहारवादी व्याख्याकार मम्मट और विश्वनाथ आते हैं। मम्मट ने वामन की तीन रीतियों को स्वीकार करते हुए उद्भट की वृत्तियों से मेल कर दिया। इसके अनुसार वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला ही हैं। इसे हम निम्न प्रकार से रखेंगे:—

वैदर्भी = उपनागरिका (माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों के आश्रित)

गौड़ी = परुषा (ओज-व्यञ्जक वर्णों के आश्रित)

पाञ्चाली = कोमला (माधुर्य व ओज-व्यञ्जक वर्णों से भिन्न वर्णों के आश्रित)

परन्तु मम्मट ने वामन के दस गुणों की आलोचना कर उन्हें तीन गुणों के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया। विश्वनाथ ने रुद्रट की तरह चार रीतियों का प्रतिपादन किया।

रीति-सम्प्रदाय के इतिहास से स्पष्ट है कि यह काव्य के बाह्याकार या शरीर को ही सर्वस्व मानकर चला, काव्यात्मा तक इसकी वैसी पहुँच न हो सकी। इसलिए यह सम्प्रदाय दीर्घजीवी न हो सका और न ही संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में वह प्रतिष्ठा पा सका। ऐसी अवस्था में हिन्दी-साहित्य में रीति-सम्प्रदाय की परम्परा प्राप्त न हो तो कोई भी आश्चर्य नहीं। हाँ, हिन्दी में 'रीति' शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है, परन्तु वह अपने ही अन्य विशिष्ट अर्थ में। वह काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमों के विधान अथवा कविता करने की रीति सिखाने से ही सम्बद्धित है। इस प्रकार हिन्दी में 'रीति-काल', 'रीति-ग्रन्थ' और 'रीति-वादी-आचार्य' आदि जो प्रयोग होता है उसका अर्थ होता है—“काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों की शिक्षा देने वाले लक्षणग्रन्थों की प्रधानता वाला काल”, इत्यादि।

रीति-सम्प्रदाय काव्य के कलापक्ष को प्राधान्य देने वालों में गिना जायेगा। इस दृष्टि से आलंकारिकों से इसकी समता है। परन्तु एक

बात से रीतिवादियों का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। आलंकारिक काव्यात्मा अलंकारों में ढूँढते रहे जब कि यह स्पष्ट है कि काव्य बिना अलंकारों के भी रहसकता है। रीति के आचार्यों ने काव्यात्मा गुणों में पहिचानने की कोशिश की। और वे उसके काफी निकट पहुँच गये, परन्तु इतना फिर भी नहीं पहिचाना कि गुण वस्तुतः किससे सम्बन्धित है। अतः यह कहा जा सकता है कि रीति के आचार्यों ने काव्यात्मा ढूँढने में अलंकारवादियों की अपेक्षा अधिक प्रगति की। इसके अतिरिक्त रीतिवादियों द्वारा गुणों का विस्तृत विवेचन किये जाने पर भी वे वास्तविक 'गुणी' का पता न पा सके। गुणों का सम्बन्ध रीति से ही जोड़ दिया, जो वास्तव में काव्य की बाह्याकृति ही हो सकती थी। इस भूल को ध्वनिवादियों ने 'अलंकार्य' और 'अलंकार' के भेद के विवेक के कारण नहीं दुहराया। उन्होंने काव्यात्मा रूप रस से गुणों का सम्बन्ध पहचानकर यह बताया कि शृंगार और करुण रस में माधुर्य गुण की विशेषता रहती है; रौद्र, वीर और अद्भुत रसों में ओज मुख्य है और प्रसाद सभी रसों से सम्बन्धित है।

ध्वनि-सम्प्रदाय

पश्चिम के देशों में काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति काव्य के उत्कर्षक एवं अपकर्षक नियमों का संग्रहमात्र करने की रही, उनमें परस्पर सम्बन्ध

विषयोपक्रम

निर्धारण कर सुशृङ्खलता स्थापित करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। फलतः वह भारतीय काव्यशास्त्र की तरह समन्वित नहीं हो

सका। परन्तु इधर भारतीय आचार्यों की काव्य के सम्बन्ध में भी वही चिरपरिचित दृष्टि रही जो विविध प्रपञ्चात्मक सङ्गठनों में एकत्व या अद्वैत की खोज किया करती है। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि दो-चार शब्दों में काव्य का लक्षण बता देना नितान्त असम्भव है; उसके लिए तो काव्यात्मा के रूप में काव्य के मूलभूत तत्त्व को खोजकर काव्य के शरीर और अङ्गोपाङ्गों की अन्विति ठीक से बिठानी होगी। तभी काव्यपुरुष का स्वरूप विशद रूप में सामने आ सकता है। ईसा की आठवीं शताब्दी तक भरत के नाट्यशास्त्र, भामह के काव्यालंकार, उद्भट के भामहविवरण, वामन के काव्यालंकारसूत्र और रुद्रट के काव्यालंकार की रचना उक्त दृष्टि को लेकर ही होती रही; परन्तु रसवादियों के सिवाय अन्य आचार्य काव्यात्मा की खोज में सफल नहीं कहे जा सकते, क्योंकि अलंकार तथा रीतिवादी आचार्य तो स्पष्टतः काव्य के बाह्याङ्गों तक ही पहुँचे, और रसवाद में भी रमणीय फुटकर छन्दों को काव्यकोटि में लाने के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की पूरी सङ्गति न दिखा सकने के कारण, अड़चन पड़ती थी।

ऐसी अवस्था में नवीं शताब्दी में रजानकानन्दवर्धनाचार्य ने अपने युग-प्रवर्तक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के द्वारा ध्वनि को 'काव्यात्मा' के रूप में प्रतिष्ठित कर काव्यपुरुष को सर्वथा सजीव ध्वनिकार का कर्तृत्व रूप में समुपस्थित कर दिया। इन्होंने अपनी रोचक एवं पाण्डित्यपूर्ण शैली में निम्न कार्य सम्पन्न कर दिखाये :—

- (i) काव्यात्मा रूप ध्वनि का अनुसन्धान।
- (ii) ध्वनि के सम्बन्ध में सम्भावित भ्रान्तियों का निराकरण।
- (iii) पूर्वप्रचलित रस, गुण, रीति और अलंकार आदि मतों का ध्वनि-सिद्धान्त में समाहार।

(iv) ध्वनि का मौलिक एवं अप्रतर्वय्य विशद विवेचन कर काव्य के एक सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या ध्वनि-सिद्धान्त के एकमात्र आदिप्रवर्तक "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ के रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य ही थे ? इस सम्बन्ध में ध्वनिकार ने प्रथम कारिका में ही—**काव्यस्यात्मा ध्वनि-रीति बुधैर्यः समाग्नात्पूर्वः** (काव्यात्मारूप ध्वनि विद्वानों के द्वारा पहले से ही प्रकाशित होती चली आई है) आदि कहकर स्वतः ही स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि-सिद्धान्त सर्वथा नवीन नहीं। वह पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा कथित है। आगे चलकर वृत्ति में—**"सूरभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेय-मुक्तिः, ...प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः"**—इस कथन द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि वे विद्वान् वैयाकरण ही हैं जिनके स्फोट-सिद्धान्त के के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का उद्भव हुआ है। इसके साथ-साथ ध्वनि की मूल साधिका 'व्यञ्जना वृत्ति' का उल्लेख भारतीय दर्शन-ग्रन्थों में पहले से ही होता चला आया था। इतना होने पर भी यह निर्विवाद है कि ध्वनि-सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग शास्त्रीय विवेचन प्रथमतः "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ द्वारा ही हुआ है।

‘ध्वन्यालोक’ की कारिकाओं और वृत्ति के कर्त्ता एक ही थे या अलग-अलग यह ऐतिहासिक प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। डाक्टर बुहलर, डाक्टर डे, और डाक्टर कारो आदि ने कारिकाओं और वृत्ति को दो भिन्न व्यक्तियों की रचना माना है। इसके विपरीत डाक्टर संकरन ने दोनों को एक ही व्यक्ति की कृति सिद्ध करते हुए परम्परागत मान्यता का समर्थन किया है।

ध्वनि-सिद्धान्त के पुरस्कर्त्ता अपना गौरव इस उद्घोषणा में मानते हैं कि उनका सिद्धान्त स्व-कल्पित या आविष्कृत नहीं अपितु “विद्वदुपज्ञेय-मुक्तिः” (विद्वन्मतानुसारी कथन) है। विद्वानों ध्वनि-सिद्धान्त का उद्- से उनका तात्पर्य वैयाकरणों से है, जिनके गम ‘स्फोटवाद’ स्फोट-सिद्धान्त के आधार पर इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तार किया। अब यहाँ पर यह देख लेना आवश्यक है कि वैयाकरणों का उक्त स्फोट-सिद्धान्त क्या है, ताकि ध्वनि-सिद्धान्त के उद्गम की कहानी स्पष्ट हो जाय।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द का आश्रय आकाश है तथा उसका ग्रहण कर्णेन्द्रिय या रेडियो आदि यन्त्रविशेष के द्वारा होता है। और उसकी उत्पत्ति के तीन कारण हो सकते हैं—(१) संयोग (२) विभाग और (३) शब्द। घंटा या भेरी आदि के बजने पर जो शब्द होता है वह संयोग है, क्योंकि भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न हुआ है। बाँस की दो खपच्चों को फाड़ने से जो शब्द पैदा होता है वह दलद्वय के फटने के कारण उत्पन्न होने से विभागज है। और मुख द्वारा जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है वह भी संयोगज या विभागज ही है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी स्वरयंत्र के स्वरतंतुओं (Vocal Chords) के संयोग और विभाग से होती है। और इस प्रकार से पैदा हुये संयोगज और विभागज ‘शब्द’ कर्णेन्द्रिय तक एक विशेष चक्रमयी-शब्द-तरङ्गों की शृङ्खला को पैदा करते

हुए पहुँचते हैं। जिस प्रकार तालाब में फँका गया पत्थर चारों ओर को लहरों के वृत्तों की शृङ्खला को प्रवाहित कर देता है, उसी तरह आकाश में पदार्थों का संयोग या विभाग चक्रमयी-शब्द-तरङ्गों की शृङ्खला को जन्म देता है। इस शृङ्खला में आदि का प्रथम शब्द संयोगज या विभागज है और उसके बाद के सब शब्दज हैं। घण्टे पर मुगरी के प्रहार से जो प्रथम संयोगज शब्द पैदा होता है वह दूसरी शब्दतरङ्ग को पैदा करता है। इस दूसरी शब्दतरङ्ग से तीसरी, तीसरी से चौथी, बस यही शब्द-धारा का क्रम आकाशस्थ वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है। और जहाँ कहीं शब्द ग्रहण करने का यंत्र कर्ण आदि होता है वह सुना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाश में अर्हानिश पैदा होने वाली अनन्त शब्द-धाराओं में आदि शब्द संयोगज या विभागज होते हैं और शेष सभी शब्दतरङ्ग पूर्व शब्द से पैदा होने के कारण शब्दज हैं। हमारे कानों में दूरस्थ घण्टानाद का जो शब्द पड़ता है वह व्याप्त शब्दतरङ्गों की एक मध्य की कड़ी होने से शब्दज है। शब्द-श्रवण-प्रक्रिया की इस प्रगति को पारिभाषिक शब्दावली में 'वीचि-तरङ्ग-न्याय' के द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

शब्द-श्रवण-प्रक्रिया को ध्यान से देखने से यह भी ज्ञात होता है कि चक्रमयी-शब्द-तरङ्गों की धारा हमारे कान तक जब पहुँचती है तो शब्द सुनाई देता है और जब वह आगे बढ़ जाती है तो सुनाई देना बन्द हो जाता है। इस अवस्था में नैयायिक कहते हैं कि शब्द का नाश हो गया और वह अनित्य है। इसके विपरीत वैयाकरणों की मान्यता है कि शब्द नित्य है, वह नष्ट नहीं होता, उसका तिरोभावमात्र होता है। कुछ भी हो, परन्तु इतना तो उभयसम्मत है कि श्रूयमाण शब्द क्षणिक है।

जब शब्द क्षणिक है तो कई वर्णों से मिलकर बने पद और पदों से बने वाक्यों का श्रवण कैसे सम्भव है? क्योंकि घट, पट इत्यादि पदों के उच्चारण के समय प्रत्येक वर्ण का क्रमिकरूपेण उद्भव और विनाश

होना चला जायेगा, समुदाय-रूप से पद की स्थिति कभी सम्भव नहीं। घट के घ के श्रवण के समय आकार की उत्पत्ति ही नहीं हुई है और जब तक अ वर्ण का उच्चारण किया जायेगा तब तक घ उत्पन्न होकर विनष्ट या तिरोभूत भी हो चुकेगा। इस प्रकार पद और वाक्य का समुदाय रूप में जब श्रवण ही सम्भव नहीं तो अर्थबोध कैसे सम्भव है, वह तो दूर की बात है !

उक्त समस्या का समाधान शब्द-विज्ञान के अद्वितीय ग्रन्थ “महाभाष्य” में पतञ्जलि मुनि ने स्फोट-सिद्धान्त की कल्पना द्वारा किया। इसके अनुसार श्रूयमाण वर्ण (वैयाकरण ध्वनि या नाद कहते हैं) अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं, क्योंकि वे आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी हैं। अर्थप्रतीति तो “सदसदनेकवर्णावगाहिनी-पद-प्रतीति” (विद्यमान और पहिले तिरोभूत अनेक वर्णों का ग्रहण कराने वाली जो पद-प्रतीति है वह) से होती है। और “सदसदनेकवर्णावगाहिनी-पद-प्रतीति” पहिले के क्रमशः श्रूयमाण और विलुप्त वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों के साथ अन्तिम वर्ण का श्रवण करने पर होती है। इसका आशय यह हुआ कि क्षणिक वर्ण श्रोता की बुद्धि में अपने संस्कार छोड़कर तिरोभूत हो जाते हैं। इन्हीं संस्कारों के बल पर पूरे पद का संकलन हो जाता है जिससे पदप्रतीति होती है। इसी पदप्रतीति से अर्थप्रतीति हो जाती है और यही संकलित-समुदाय-रूप पदप्रतीति “स्फोट” है, क्योंकि इसी से अर्थ स्फुटित होता है—“स्फुटित् अर्थः यस्मात् स्फटः।”

श्रूयमाण शब्द (ध्वनि या नाद) बुद्धि में स्फोट (संकलित समुदाय-रूप पदप्रतीति) का जनक या अभिव्यजक है। वैयाकरणों के मत में यही स्फोटात्मक शब्द नित्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैयाकरण “ध्वनति इति ध्वनिः” इस व्युत्पत्ति के आधार पर ‘स्फोट’ को अभिव्यक्त करने वाले श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहते हैं। इसी के साम्य से आलंकारिकों ने भी उन शब्द और अर्थ आदि के लिए ध्वनि

शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया जो वाच्य और वाचक से भिन्न व्यंग्यार्थ का बोध कराते १ । आगे चलकर व्यंजनावृत्ति, व्यङ्ग्यार्थ और व्यङ्ग्यप्रधान काव्य के लिए भी ध्वनि शब्द का प्रयोग होने लगा । उक्त पाँचो अर्थों में प्रयुक्त होने के लिए ध्वनि शब्द की निम्न प्रकार व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं:—

(i) “ध्वनतीति ध्वनिः” इस व्युत्पत्ति से जो शब्द या अर्थ व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनित करे वह ध्वनि है ।

(ii) “ध्वन्यते इति ध्वनिः” जो ध्वनित हो, अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ, वह ध्वनि है ।

(iii) “ध्वननं ध्वनिः” इस व्युत्पत्ति से जो ध्वनन रूप व्यापार है वह व्यंजनावृत्ति भी ध्वनि हुई ।

(iv) “ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः” इस व्युत्पत्ति से जिसमें पूर्वोक्त चार प्रकार की ध्वनि (व्यंजक शब्द या अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ और व्यंजनाव्यापार) हो वह काव्य भी ध्वनि कहाया ।

“काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति (काव्यात्मा ध्वनि है), ध्वनिकार का यह आदिवाक्य सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त का बीजभूत है । इसका आशय

यह है कि काव्य में मुख्यतया वाच्यार्थ का नहीं काव्य के भेद— अपितु व्यङ्ग्यार्थ (ध्वनि) का सौन्दर्य होता

“ध्वनि-वाक्य” है । जैसे आत्मा की स्थिति से शरीर प्राणवान् होता है वैसे ही ध्वनि की उपस्थिति से काव्य

सजीव होता है । यह व्यङ्ग्य-प्रधान काव्य ही उत्तम कोटि का है अतः उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं । ध्वनिकाव्य का निरूपण अथवा ध्वनि का लक्षण ध्वनिकार ने निम्न प्रकार किया है:—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वाथौ ।

व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

“जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर “तमर्थ” — उस प्रतीयमान अर्थ को — अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि नाम से ध्वनि का स्वरूप कहा है ।” यहाँ पर तमर्थ का विशेष महत्त्व व लक्षण है । इसे पृथक् कारिका में बड़े रोचक ढंग से स्पष्ट किया गया है ।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

“प्रतीयमान कुछ और ही चीज़ है, जो महाकवियों की वाणी में (वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त रूप में) रमणियों के प्रसिद्ध मुख-नासिकादि से अलग उनके लावण्य के समान भासित होता है ।” इस प्रतीयमान अर्थ की विशेषताएँ भी बतायी हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

“उस स्वादु (आस्वाद्य रूप) अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महा-कवियों की वाणी उनकी अलौकिक एवं प्रतिभासमान प्रतिभाविशेष को दर्शाती है ।”

इस प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा जब व्यंग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारकारक हो तब ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य) समझना चाहिये । ध्वनिकार ने उपसंहार करते हुए ध्वनि के प्राधान्य की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है : —

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।

यद् व्यंग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥

उद्यो० २। का० ३३ ॥

“ध्वनि के सभी भेदों में प्रधानभूत ध्वनि की जो स्फुट रूप से प्रतीति

होती है वही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है ।" व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता होने पर काव्य मध्यम कोटि का हो जायेगा । अर्थात् **गुणीभूतव्यंग्य** वाच्यार्थ की अपेक्षा यदि व्यङ्ग्यार्थ गौण (कम रमणीय या समान रमणीय) हो तो मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है ।

काव्य-भेद का तीसरा प्रकार चित्रकाव्य है, इसे अधम कहा गया है । इसमें व्यङ्ग्यार्थ का अभाव रहता है, और अर्थचाखूब भी नहीं होता । ध्वनिकार की यह उदारता ही समझनी चाहिये कि उन्होंने इसे काव्य-कोटि में स्थान दिया; अन्यथा अभिनवगुप्त और विश्वनाथ ने तो रसाभाव के कारण चित्रकाव्य को काव्य ही नहीं माना । इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की सापेक्षिक प्रधानता के आधार पर ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किये हैं—[१] उत्तम (ध्वनिकाव्य) [२] मध्यम (गुणीभूतव्यंग्य) और [३] अधम (चित्रकाव्य) ।

और स्वयं ध्वनि (ध्वन्यते इति ध्वनिः) भी तीन प्रकार की है—[१] रस-ध्वनि [२] अलंकार-ध्वनि और [३] वस्तु-ध्वनि । काव्य में जब आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी ध्वनि के तीन प्रकार के संयोग से पुष्ट होकर स्थायीभाव-रस रूप में अभिव्यक्त होता है तब रस की निष्पत्ति होती है । जिन स्थलों पर विभावादि से रसाभिव्यक्ति बिना किसी व्यवधान के होती है वे रस-ध्वनि के उदाहरण माने जाते हैं । असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के उदाहरणों में काव्य के शब्दार्थ सीधे रसाभिव्यक्ति करते हैं । अतः वहाँ रस-ध्वनि ही रहती है । परन्तु जहाँ शब्दार्थ द्वारा किसी अलंकार या वस्तु की व्यञ्जना हो वहाँ क्रमशः अलंकार-ध्वनि कही जायेगी । संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में या तो अलंकार-ध्वनि होती है या वस्तु-ध्वनि । इन तीनों के क्रमशः उदाहरण देखने चाहिये ।

रसध्वनि का उदाहरण:—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
रसध्वनि यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इन शब्दों से ऋषि के शोक की भावना सीधे करुण रस के रूप में प्रतीयमान है। इसी प्रकार—

सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल ।

‘हरुए’ कहू मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ॥ बिहारी ॥

मान की शिक्षा देने वाली सखी के प्रति नायिका की उक्ति है। ‘हरुए’ पद से बिहारीलाल में अनुराग सूचित होता है, जिससे सम्भोग शृङ्गार ध्वनित है।

अलंकार-ध्वनि का उदाहरण:—

मैं नीर भरी दुख की बदली !

विस्तृत नभ का कोई कोना ,

मेरा न कभी अपना होना ।

परिचय इतना इतिहास यही ,

उमड़ी कल थी मिट आज चली ।

मैं नीर भरी दुख की बदली !

“मुझे नीर से भरी दुख की बदली समझ सकते हो, पर भाग्य उस बदली जैसा भी नहीं, क्योंकि मुझे उसकी तरह विस्तृत-नभ-प्राङ्गण रूप किसी की सुखद गोद का एक कोना भी

अलंकार-ध्वनि प्राप्त न हो सका—विरहिणी जो ठहरी।”

इस वाच्यार्थ से बदली और विरहिणी की समता ध्वनित होती है। बदली नीरभरी है तो विरहिणी अश्रुपूर्ण-और दोनों को उमड़ते के साथ ही (विरहिणी, उठते यौवन में ही) बरसना पड़ा (विरहिणी को रुदन करना पड़ा)। परन्तु उपमान से उपमेय की न्यूनता बताने के कारण चमत्कार बढ़ गया है। अतः यहाँ “व्यतिरेकालंकार”-रूप ध्वनि कही जायेगी।

वस्तु-ध्वनि का उदाहरण :—

कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि ! कहहु को अहहिं तुम्हारे ?
सुनि सनेहमय मंजुल बानो, सकुचि सीय मन मैंह मुसिकानी ॥

ग्राम-ललनाओं के सीधे से प्रश्न के उत्तर में सीता जी संकोचपूर्वक मन ही मन मुसिकाने लगी । इस वाच्यार्थ में रामचन्द्र जी का पति होना रूप वस्तु व्यंग्य है ।

वस्तु-ध्वनि अलंकार, वस्तु और रस-ध्वनियों में रस-ध्वनि का ही महत्त्व सर्वोपरि है; क्योंकि वस्तु और अलंकार कभी वाच्य भी होते हैं, परन्तु रस कभी वाच्य नहीं होता । और इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम ध्वनिकाव्य कहा है । रस-ध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है । यह उत्तम में भी उत्तम है और दूसरे शब्दों में रस ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है ।

ऊपर व्यङ्ग्यार्थ को आधार मानकर ध्वनि के भेद किये गये हैं । इसके अतिरिक्त व्यञ्जक (पद, वाक्यादि) की दृष्टि से भी ध्वनि के भेद किये जाते हैं । इस प्रकार ध्वनि के मुख्य भेद ५१ ही हैं, परन्तु अनेक आचार्यों ने अवान्तर और मिश्र भेदों के प्रदर्शन द्वारा यह संख्या हजारों तक पहुँचा दी है ।

ध्वनिकार ने ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध कर सामान्यतया दो मुख्य भेद बताये हैं:—[१] अविवक्षितवाच्य और [२] विवक्षितान्यपरवाच्य ।—अस्ति ध्वनिः । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन ॥ यहाँ इनका विवरण देख लेना आवश्यक है—

[१] अविवक्षितवाच्य (लक्षणा मूला ध्वनि);—लक्षणा के आश्रित

रहने वाली इस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती। वाच्यार्थ बाधित होने से अर्थप्रतीति नहीं कराता अपितु अविवक्षितवाच्य ध्वनि इस (ध्वनि) के व्यञ्जनाव्यापार में लक्षणावृत्ति तथा वक्तविवक्षा आदि सहकारी होते हैं जिनमें लक्षणावृत्ति का ही सर्वाधिक प्रभाव होने से यह लक्षणामूला भी कहाती है। इसमें दो स्थितियाँ सम्भव हैं। एक में तो वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमित हो सकता है और दूसरी में सर्वथा तिरस्कृत। इसलिए लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद होते हैं—[१] अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है) और [२] अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ सर्वथा उपेक्षित ही रहता है।)

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण निम्न है:—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तविपतो वेह्लद्वलाका घनाः ,
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वे सहे ,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

‘स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले तथा वकपंकित से युक्त मेघ [भले ही उमड़ें], जल-बिन्दुओं से युक्त वायु [भले ही बहे] और मेघमित्र मयूरों की आनन्दभरी कूकें भी चाहे जितनी [श्रवणगोचर हों], मैं तो कठोर-अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य हृदय ‘राम’ हूँ, सब कुछ सह लूंगा। परन्तु वैदेही बिचारी की क्या दशा होगी ? हे देवि धैर्य धरो।’ यहाँ पर ‘राम’ शब्द का संज्ञिमात्र राम-रूप-अर्थ बाधित होकर व्यंग्य-धर्म-निष्ठ “अत्यन्त दुःखसहिष्णु राम” का बोध होता है। इस प्रकार राम शब्द का वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है। इसी प्रकार—

सीताहरन तात ! जनि कहेउ पिता सन जाइ ।

जो मैं 'राम', तो कुल-सहित कहहि दसानन आइ ॥

—रामचरितमानस ॥

मरणासन्न जटायु की दशा को देखकर सीताहरणकारी रावण पर क्रोधिक होने वाले राम की उक्ति है। इसका वाच्यार्थ है—
“हे प्रिय बन्धु जटायु ! (स्वर्ग में) जाकर (स्वर्गस्थ) पिता जी से सीता-हरण का समाचार मत कहना। यदि मैं 'राम' हूँ तो रावण स्वयं ही कुलसहित आकर कह देगा।” यहाँ भी मुख्यार्थ बाधित होकर “खरदूषणादि को मारने वाला वीर राम” यह लक्ष्यार्थ ज्ञात होता है। राम रूप मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग न होकर 'वीर-राम' इस विशिष्ट अर्थ में संक्रमण हो गया है। अजहत्स्वार्था लक्षणा व्यापार के प्रभाव से व्यञ्जनावृत्ति द्वारा प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। वह है—
राम की वीरता का आधिक्य।

अब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण भी देखिये:—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।

निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

“सूर्य में जिसकी शोभा संक्रान्त हो गई है (क्योंकि हेमन्त ऋतु में सूर्य भगवान् चन्द्रमा की तरह अनुष्ण और आल्लादमय हो जाते हैं) और तुषार से घिरे मण्डल वाला चन्द्रमा, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य निश्वास से अन्धे (मलिन) दर्पण के समान, प्रकाशित नहीं होता।” यहाँ पर 'अन्ध' शब्द का वाच्यार्थ 'नेत्रहीन' है जो दर्पण में अनुपपन्न होने से बाधित है। तब प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था लक्षणा से 'अन्ध' का लक्ष्यार्थ हुआ 'पदार्थों को प्रकाशित करने में अशक्त' और व्यंग्यार्थ रूप प्रयोजन हुआ 'अप्रकाशितत्वातिशय'। इस प्रकार अन्ध शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

का उदाहरण है, क्योंकि इसने अपने वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार कर दिया है।

इसी प्रकार निम्न हिन्दी उदाहरण में भी—

कह अंगद—सलज जग माँहीं । रावण तेहि समान कोऊ नाहीं ॥

अंगद-रावण-संवाद में अंगद की रावण के प्रति उक्ति है। इसका वाच्यार्थ हुआ—“अंगद कहते हैं, हे रावण ! तुम्हारे समान ‘लज्जाशील’ जगभर में कोई नहीं है।”

अंगद द्वारा धृष्ट रावण को लज्जाशील बताना प्रकरणानुसार संगत नहीं; अतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। और लक्ष्यार्थ हुआ—“हे रावण ! तुम्हारे समान ‘निर्लज्ज’ जगभर में कोई नहीं।”

इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया गया है, जिसमें जहत्स्वार्था लक्षणा हुई। इसके प्रभाव से प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ हुआ—“निर्लज्जता की पराकाष्ठा।”

व्यञ्जक की दृष्टि से यदि ध्वनि के भेदों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उक्त उदाहरण ‘अन्ध’ इस पदमात्र से सम्बन्धित है। अतः यह पदगत ध्वनि का ही उदाहरण है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि वाक्यगत भी हो सकती है। इसका उदाहरण निम्न है:—

सुवर्णपुष्पां पृथिवी चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।

शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

“सुवर्ण जिस पृथिवी रूप लता का पुष्प है उसका चयन तीन ही पुरुष करते हैं—शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानते हैं।” यहाँ भी समस्त ‘सुवर्णपुष्पा पृथिवी का चयन’ रूप मुख्यार्थ अनुपपन्न है। लक्षणा द्वारा “प्रभूत धन के अनायासोपार्जन से मुलभ समृद्धिसम्भारभाजनता” यह अर्थ व्यक्त होता है। और प्रयोजनरूप व्यञ्ज्य है शूर, कृतविद्य और सेवकों की प्रशस्ति।

[२] विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूला ध्वनि)—इसमें वाच्यार्थ विवक्षित रहने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यचनिष्ठ होता है।

यह स्पष्टतया अभिधाशक्ति के आश्रित है।

विवक्षितान्यपरवाच्य इसके दो भेद हैं—[१] असंलक्ष्यक्रमध्वनि और [२] संलक्ष्यक्रमध्वनि। अभिधामूला ध्वनि में वाच्यार्थ की अपनी सत्ता अवश्य होती है परन्तु अन्ततः वह व्यङ्ग्यार्थ का ही साधक होता है। वाच्यार्थप्रतीति और व्यङ्ग्यार्थप्रतीति में पूर्वापर क्रम भी अवश्य रहता है, परन्तु जहाँ पर क्रम होने पर भी लक्षित न हो वहाँ असंलक्ष्यक्रमध्वनि होती है। जिस प्रकार शतपत्रों को सुई से भेदन करने पर पत्रों के भेदन के क्रम की प्रतीति नहीं होती उसी तरह व्यङ्ग्यार्थ (रस) की प्रतीति में क्रम अलक्षित रहता है। इसे शत-पत्र-भेद-न्याय कहते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत समस्त रस-प्रपञ्च (अर्थात् रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलतारूप आस्वाद प्रधान ध्वनि) आ जाता है। इसके उद्रेक की उत्कटता के कारण क्रम की प्रतीति नहीं होती।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के जो दो भेद किये गये थे वे वाच्यार्थ की प्रतीति के स्वरूप के भेद के कारण थे, परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमध्वनि दोनों भेद व्यञ्जनावृत्ति के स्वरूप के भेद के कारण हैं। प्रथम असंलक्ष्यक्रमध्वनि (रस-ध्वनि) के उदाहरण देखने चाहियें :—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं, किमभिधानमसावकरोत्तपः।

सुमुखि येन तवाधरपाटलं, दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥

“हे सुमुखि ! इस शुकशावक ने किस पर्वत पर, कितनी देर कौन-सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान लाल-लाल बिम्ब-फल को काट रहा है ?” इस वाच्यार्थ के साथ-साथ दूसरा यह अर्थ भी

अकाशित होता है कि 'उचित तारुण्यकाल में तुम्हारे अधरारुण्यलाभ से गर्वित बिम्बफल का तुम्हें ही लक्ष्य करके रसास्वादन करना पुण्यातिशायलभ्य फल है, और इसकी प्राप्ति के लिए जो आवश्यक तपश्चर्या है उसे करने के लिए अनुरागी वक्ता तैयार है।' यहाँ पर व्यञ्जना वृत्ति से फल की पुण्यातिशयलभ्यता और तत्सम्बन्धी अनुरागी का स्वाभिप्राय-स्थापन ये दोनों बातें प्रकट होती हैं। कुल मिलाकर विप्रलम्भ-शृंगार व्यंग्य है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट है कि शब्द और वाच्यार्थ का महत्त्व नहीं है, अतः वे गौण हैं। व्यञ्जना वृत्ति से प्रकट होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होने से यह ध्वनिकाव्य (उत्तम) है। परन्तु 'मुख्यार्थ का बाध' जैसी कोई चीज भी नहीं है, अतः यह लक्षणामूलक ध्वनि न होकर अभिधामूलक है। उसमें भी शृंगार रस के उत्प्रेरक की उत्कटता के कारण वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति में जो क्रम है वह भी लक्षित नहीं होता। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि उक्त काव्य, 'रस-ध्वनि' (विप्रलम्भ-शृंगार) की प्रधानता होने से, असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि का उदाहरण है।

इसी प्रकार निम्न हिन्दी उदाहरण में :—

देखन मिषु मृग विहग तरु, फिरै बहोरि बहोरि।

निरखि निरखि रघुवोर छवि, बाढ़ी प्रीति न थोरि॥

—रामचरितमानस

वाच्यार्थ है—[जनकपुरी की वाटिका में गौरीपूजन के लिए आई हुई सीता जी और रामचन्द्र जी के पूर्वमिलन के समय का प्रसंग है] सीता जी पशु-पक्षी तथा वृक्षों को देखने के बहाने उस तरफ बार-बार आती हैं और श्रीराम की छवि को पुनः पुनः देखने से अतिशय अनुराग की वृद्धि होती है।

यहाँ भी सीता जी का रामचन्द्र जी के प्रति पूर्व-अनुराग का वर्णन होने से विप्रलम्भ-शृंगार व्यंग्य है। अतः रस-ध्वनि का उदाहरण है।

जैसा कि ऊपर बताया है, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रम ध्वनि है। इसमें वाच्यार्थ में व्यंग्यार्थ (अलंकार और वस्तु

रूप ध्वनि) की प्रतीति का क्रम उसी प्रकार **संलक्ष्यक्रम ध्वनि और** स्पष्टतया लक्षित होता है जैसे घण्टे के शब्द के **इसके तीन भेद** पश्चात् उमकी गूँज (अनुरागन या अनुस्वान) ।

इस ध्वनि के भी तीन भेद हैं—[१] शब्दश-
क्त्युद्भव [२] अर्थशक्त्युद्भव और [३] शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव
(इस तृतीय भेद के लिए द्वितीय उद्योत की २३वीं कारिका की वृत्ति देखो) ।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का एकमात्र मूलाधार बोधक-शब्द होता है। उस शब्द के स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने से काम नहीं चलता। इसके विपरीत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में शब्दपरिवर्तन के बाद भी अर्थात् पर्यायवाची शब्द के रखने पर भी व्यंग्यार्थ पूर्ववत् ध्वनित होता रहता है। इनका भेद उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जायेगा।

परन्तु उदाहरण प्रस्तुत करने से पूर्व एक शंका का समाधान आवश्यक है। वह यह कि शब्दशक्ति के आधार पर दो अर्थों की प्रतीति

श्लेष अलंकार में भी होती है। तब फिर श्लेष
श्लेष अलंकार का और शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की विषय-व्यवस्था
स्थल का क्या नियम होगा ? इसके उत्तर में निम्न
कारिका है :—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।

यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥

“जहाँ पर शब्द से अनुक्त (सक्षादसंकेतित) होने पर भी शब्द शक्ति से ही आक्षिप्त—शब्दसामर्थ्य से व्यंग्य—अलंकार की प्रतीति

होती है वहाँ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। सारांश यह है कि शब्द-शक्ति से वस्तुद्वय की प्रतीति जब वाच्य रूप में हो तो श्लेष अलंकार समझना चाहिये अन्यथा शब्दशक्ति से आक्षिप्त—ध्वनित—होकर जो अलंकारान्तर की प्रतीति है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल है।

निम्न उदाहरणों में वस्तुद्वय प्रकरणाभिप्रेत है. अतः वाच्य है। और ये उदाहरण श्लेष के ही हैं :—

श्लाध्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचन्द्रदधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

यह श्लोक ध्वनिकार का अपना ही है। इसमें कहा गया है कि विष्णु ने जिन रुक्मिणीदेवी को अपने शरीर से उत्कृष्ट पाया वे तुम्हारी रक्षा करें। यहाँ पर विष्णु-शरीर रूप उपमान की अपेक्षा रुक्मिणी-शरीर रूप उपमेय में आधिक्य दिखाया है, अतः व्यतिरेक अलंकार है। यह अलंकार विष्णु के विशेषणों के द्वारा दो अर्थ करने पर सिद्ध होता है। अतः कहा जा सकता है कि व्यतिरेक की छाया को पुष्ट करने वाला श्लेष है जो “स्वतनोरपश्यदधिकां” इस पद के कारण वाच्य ही माना जा सकता है। श्लोक का अर्थ निम्न प्रकार है :—जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है (दूसरा अर्थ—सुदर्शनचक्रधारी) जिन्होंने केवल चरणारविन्द के सौन्दर्य से (दूसरा अर्थ—पादविक्षेप से) तीनों लोकों को आक्रान्त किया है और जो चन्द्र-रूप से केवल नेत्र को धारण करते हैं (अर्थात् जिनका समग्र मुख नहीं अपितु एक नेत्रमात्र ही चन्द्र रूप है) ऐसे विष्णु ने अखिल देहव्यापी सौन्दर्य वाली, सर्वाङ्ग सौन्दर्य से त्रैलोक्य को विजित करने वाली और चन्द्रमा के समान सम्पूर्ण मुख वाली जिन रुक्मिणी को उचित रूप से ही अपने शरीर में उत्कृष्ट देखा; वे तुम्हारी रक्षा करें।

एक हिन्दी उदाहरण भी देखो :—

‘रहिमन’ पानी राखिये, बिन पानी सब सून ।

पानी गये न ऊबरे, मोती, मानस, चून ॥

यहाँ पर ‘पानी’ इस शब्द के तीन अर्थ क्रमशः आभा, प्रतिष्ठा और जल अभिधा से प्रतीत होते हैं, क्योंकि मोती, मानस और चून ये तीन प्राकरणिक मौजूद हैं। यह भी श्लेष अलंकार का उदाहरण है। ध्वनि का विषय नहीं। अस्तु !

अब शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण लेते हैं—“अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्जृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधट्टलाट्टहासो महाकालः ।” इसका प्राकरणिक वाच्यार्थ है—

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि “इसी समय वसन्तकाल का उपसंहार करता हुआ, खिली हुई मल्लिकाग्रों (जुही) के, अट्टा-

लिकाग्रों को धवलित करने वाले, हास से परिपूर्ण ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ।” इस अर्थ की प्रतीति के पश्चात् अनुस्वान (गूँज) के समान वाच्यार्थ का उपमानभूत दूसरा अप्राकरणिक अर्थ भी प्रतीत होता है—“प्रलयकाल में कृतयुगादि का उपसंहार करते हुए और खिली जुही के समान अट्टहास करते हुए महाकाल शिव के समान (ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ)।” अब देखना यह है कि यहाँ पर इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति कैसे हुई ? ‘महाकाल’ के दो अर्थ होते हैं—[१] एक रूढ़ अर्थ शिव या रुद्र और दूसरा [२] यौगिक अर्थ—दुरतिवहकाल अर्थात् ग्रीष्म-काल। यद्यपि यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढ़ि अर्थ ही मुख्य माना जाता है तो भी प्रकरणानुसार अन्वित होने से ‘ग्रीष्म समय’ ही गृहीत होगा। अतः यहाँ पर प्रकरण के हेतु से अभिधाशक्ति इसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो गई। जहाँ पर एकार्थ नियामक हेतु होता है, वहाँ पर अन्य अर्थों की प्रतीति न होने से श्लेष का अवकाश ही नहीं रहता। इस कारण द्वितीय अर्थ की प्रतीति श्लेष से तो नहीं हुई यह स्पष्ट हो

गया। परन्तु दूसरा अर्थ प्रतीत अवश्य होता है जिसके कारण यह गद्यखण्ड उत्तम काव्य माना गया है। इस द्वितीयार्थ की प्रतीति का कारण यह है कि आता के मन में 'महाकाल' शब्द का 'रुद्र' यह अर्थ तो संकेतित है ही। और 'महाकाल' इस शब्द के ग्रीष्म और रुद्र इन दोनों अर्थों में जो सादृश्य है उसके सामर्थ्यवश ध्वनन व्यापार भी होता है। इस प्रकार उक्त द्वितीयार्थ संकेतग्रहमूलक और ध्वननव्यापारमूलक होने से शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहाया।

उसी प्रकार पन्त जी के 'गुञ्जन' से उद्धृत निम्न प्रार्थना में:—

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यक्त चिर नूतन !

“हे चिर अव्यक्त, चिर नवीन ज्योतिस्वरूप जीवन ! (जीवनप्रदाता प्रभो !) संसारक्षेत्र के लघुतम घास-पात पर भी जीवन (जलप्रदाता-मेघ) के समान अनुकम्पा करो।” ‘जीवन’ शब्द के दो अर्थ जीवन और जल होते हैं। प्रकरणानुसार प्रथम अर्थ में ही अभिधा शक्ति के नियन्त्रित हो जाने से जल रूप द्वितीयार्थ वाच्य नहीं है अपितु विशेषणों की समान रूप से अन्विति होने के कारण दोनों अर्थों की समानता के बोध से आक्षिप्त होकर उपमा अलंकार रूप द्वितीय अर्थ ध्वनित होता है। अतः शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि का उदाहरण हुआ।

अब प्रकरणानुसार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण देखना चाहिये—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्वे पितुरबोधुम्बु ॥

लीलाक्रमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

“देवर्षि-मण्डल के ऐसा (पार्वती-शिव-विवाह की चर्चा और शिव

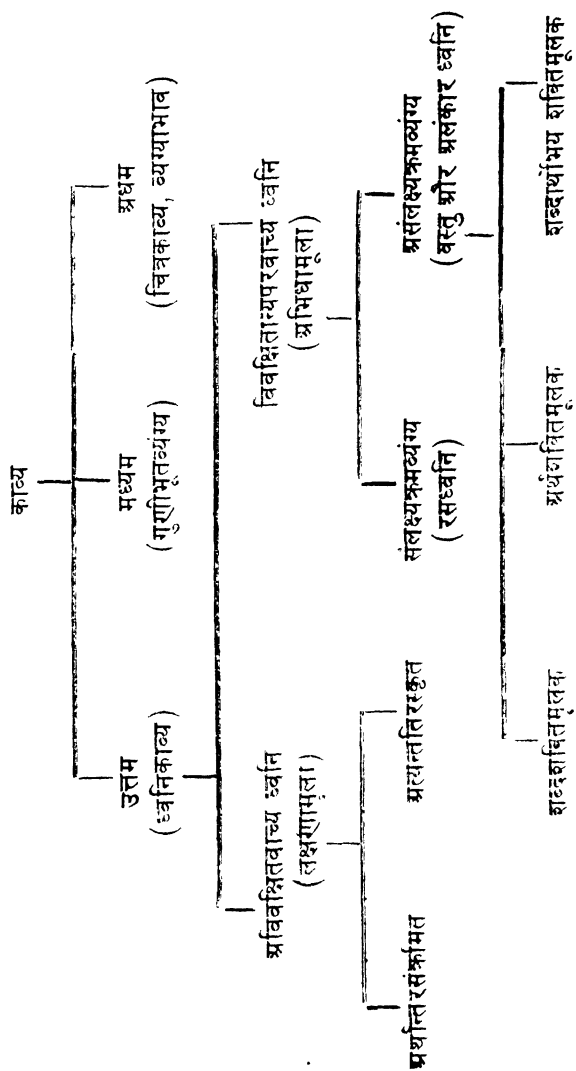
के विवाहार्थ सहमत होने की सूचना) कहने पर पिता के पास बंठी हुई पार्वती नीचा मुख करके लीलाकमल की अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि पंखुड़ियाँ गिनने लगी ।” उक्त श्लोक के इस वाच्यार्थ से लज्जा नामक संचारीभावरूप अर्थान्तर ध्वनित होता है । “लीलाकमलपत्राणि गणायामास” इन शब्दों के स्थान पर पर्यायवाची अन्य शब्दों के रख देने से भी उक्त भाव ध्वनित होगा । इसलिए यह अर्थशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है ।

रे कपि कौन तू ? अक्ष को घातक, दूत बली रघुनन्दन जी को ।
को रघुनन्दन रे ? त्रिसरा-खरदूषण-दूषण भूषण भू को ॥
सागर कैसे तर्यो ? जस गोपद, काज कहा ? सिय-चोरहिं देख्यो ।
कैसे बँधायो ? जु सुन्दरी तेरी छुई दग सोवत पातक लेख्यो ॥

—रामचन्द्रिका ॥

अशोक-वाटिका को उजाड़ने पर मेघनाद ने हनुमान् जी को पकड़कर रावण के पास पेश किया । तत्कालीन रावण-हनुमान् के व्यङ्ग्यपूर्ण सम्वाद का यह अंश है । हनुमान् जी के उत्तरों से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि श्रीराम महाबलशाली प्रतिद्वन्दी हैं । उनका पराक्रम विश्वविदित है । पर तुम्हें अभी तक उनके बल का पता न लगा, अतः तुम्हारा विनाश सन्निकट है... इत्यादि । और अनजाने में सीती हुई परस्त्री के दर्शन के पातक से बंदी बना हूँ, इस अर्थ के वर्णन से—“जान बूझ कर परस्त्री का अपहरण करने वाले तुम जैसे व्यक्ति का सर्वनाश अवश्यम्भावी है”—यह बात स्वतः सिद्ध होती है । अतः काव्यार्थापत्ति अलंकाररूप ध्वनि है । ये सभी ध्वनियाँ किसी पदविशेष के आश्रित न होने से अर्थशक्तिमूलक ही हैं ।

यहाँ तक काव्य तथा ध्वनिकाव्य (उत्तम) के भेदों का प्रदर्शन कर चुके। उसी की तालिका रूप से निम्न प्रकार भी दिखाया जा सकता है:—



उपर्युक्त विवरण के अनुसार ध्वनि के १८ भेद होते हैं; जिनकी गगना नील प्रकार है:—

[१] अविवक्षितवाच्य ध्वनि के

(i) अर्थान्तरसंक्रामितवाच्य	...	...	...	१	२
(ii) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य	...	...	...	१	भेद
[२] विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के	...	...	...	...	...
(i) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि	...	...	...	१	...
(ii) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि	...	...	...	...	...
१ शब्दशक्तिमूलक (वस्तु-ध्वनि + अलंकार-ध्वनि)	...	...	...	२	१६
२ अर्थशक्तिमूलक (स्वन-सम्भवी आदि के आधार पर)	...	...	...	१२	भेद
३ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक	...	...	...	१	...

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि ध्वनि के अष्टाग्न भेद व्यंग्य के आधार पर किये गये हैं। पद, वाक्य आदि की दृष्टि में रखकर भी, व्यञ्जक के आधार पर और भेद करने पर यह संख्या ५१ हो जाती है।

ध्वनिकार के कर्तृत्व को देखते हुये हमें यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती और परवर्ती अन्य मतों का समाहार ध्वनि-मिथान में बड़ी योग्यता से किया। उनके द्वारा प्रतिपदित ध्वनि की महाविषयता को समझने के लिए काव्य-पुरुष के उस समय चित्र को मतों का समाहार सामने रखना पड़ेगा जो उन्होंने कल्पित किया है। वह निम्न प्रकार अङ्कित किया जा

सकता है:—

काव्य-पुरुष

काव्य-पुरुष	आत्मा—	ध्वनि [काव्यस्यात्मा ध्वनिः]	वस्तु-ध्वनि अलंकार-ध्वनि रस-ध्वनि
		अर्थ [सूक्ष्मशरीर]	अर्थालंकार (शरीर के अस्थिर धर्म) शब्दालंकार (" " " ")
	शरीर [शब्दार्थ शरीरं काव्यम्]	रीति (शैली) [रचना की पद्धति विशेष]	वैदर्भी गौड़ी पांचाली
		संघटना [पदों के प्रयोग की दृष्टि से रचना के विभाग]	असमासा मध्यमसमासा दीर्घसमासा
		वृत्ति [वर्णों के प्रयोग की दृष्टि से रचना के विभाग]	परुषा (परुषानुप्रासा) (नागरिका) उपनागरिका (मसृणानुप्रासा) कोमला (मध्यमानुप्रासा) (ग्राम्या)
		शब्द [दृश्यमान शरीर]	माधुर्य (अल्लादकत्वं माधुर्यम्) भोज (दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजः) प्रसाद (व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादः)
		गुण	श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादिवत्

चित्त की दृति आदि से सम्बन्धित होने के कारण, ध्वन्यर्थ रूप आत्मा से अन्ततः रंग रूपेण ही सम्बन्धित है। अ एव शौर्यादिवत् आत्मा के गुण हैं।

ध्वनिकार से पूर्ववर्ती सिद्धान्त रस, गुण, रीति और अलंकार थे तथा परवर्ती वक्रोक्ति व औचित्य । इनमें रस के साथ ध्वनि का तो कोई विरोध ही नहीं सकता । भरत के रस-सूत्र

रस और ध्वनि के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है । इसका आशय

यह हुआ कि काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी का ही कथन किया जाता है, संयोग के परिष्काररूप रस का नहीं । रस उनके संयोग से स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है; क्योंकि रस हृदयस्थित वासना की आनन्दमय परिणति ही तो है । अतः रस कभी भी वाच्य नहीं होता, वह सदा अभिव्यञ्जित ही होता है । ऐसी ही मान्यता ध्वनिकार की भी है—“तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसमर्थश्चिप्लः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति” (तीसरा रसादि रूप भेद वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है, साक्षात् शब्दव्यापार का विषय नहीं होता) । इसी कारण से ध्वनिकार रस को ‘रस-ध्वनि’ कहते हैं । अपनी अलौकिकता के कारण ‘रस-ध्वनि’ ही एकमात्र असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है ।

इसके बाद अब गुण-रीति, अलंकार और वक्रोक्ति रहे । इनका समाहार करने के लिये ध्वनिकार ने निम्न युक्ति-क्रम अपनाया । इसमें उन्होंने ध्वनि की महाविषयता की सम्यक्रीत्या

ध्वनि और अलंकार स्थापना की ।

आदि

ध्वनि (अङ्गी) के अभाव में गुण-रीति और अलंकार आत्मा से विहीन पंचतत्त्वों के समान निरर्थक हैं । वे ध्वनि की महत्ता को प्रकट करने के कारण ही सार्थक हो पाते हैं । गुण और अलंकारों की अंगता निम्न कारिका द्वारा प्रकट की गई है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।

अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ उद्यो० २॥ का० ६॥

“जो अङ्गी (प्रधानभूत ध्वनि) के आश्रित रहते हैं वे गुण; और जो अङ्ग (शब्द और अर्थ) के आश्रय से रहते हैं वे कटकादि की तरह अलंकार कहे जाते हैं।”

गुण—गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति दीप्ति आदि से है। अतः माधुर्यादि गुण ध्वन्यर्थ (रस या आत्मा) के साथ अन्तरंग रूप से सम्बन्धित होते हैं। ठीक वैसे ही जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के गुण माने जाते हैं।

अलंकार—अलंकार भी काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ से सम्बन्धित हैं—अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्यादङ्गिनाश्चारु-
त्वहेतुरुच्यते (उद्यो० २। कारिका १७वीं की व्याख्या)। रीति की तरह अलंकार नित्य धर्म नहीं, अस्थिर धर्म हैं। बिना शब्दालंकार और अर्थालंकार के भी काव्य के शब्द और अर्थ देखे जाते हैं।

रीति—(पदसंघटना) इसका सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ से है। इसका दर्जा भी अलंकारों के समान है। मुख्यतया काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ की उपकारक होकर अन्ततोगत्वा आत्मा (ध्वनि) की ही उत्कर्षक कही जा सकती है।

इसके अतिरिक्त रस, गुण-रीति, अलंकार और वक्रता आदि सभी ध्वनि के समान व्यंग्य ही रहते हैं। अर्थात् ध्वनि रूप में ही उपस्थित रहने के कारण एक प्रकार से ध्वनि की व्याख्या के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। कही भी वाचक शब्द द्वारा माधुर्यादि गुणों, वैदर्भी आदि रीतियों, उपमादि अलंकारों और वक्रता का कथन नहीं होता। इन सभी का क्षेत्र ध्वनि में न्यून ही है और ध्वनि की महाविषयता सिद्ध होती है।

ध्वनि-सिद्धान्त को जिन विरोधी आचार्यों के तर्कों का सामना करना पड़ा उनका थोड़ा सा अवलोकन करके इस प्रकरण को समाप्त

किया जायगा । संक्षेप में विरोधी आचार्यों की स्थिति निम्न प्रकार है:—

[क] भट्टनायक—इन्होंने भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन शब्दशक्तियों की उद्भावना करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त की आधारभूत व्यञ्जना शक्ति की अनावश्यकता का प्रतिपादन किया । इनके तर्कों का ध्वन्यालोक के दिग्गज व्याख्याता अभिनवगुप्त ने पूरी तरह निराकरण करते हुए व्यञ्जना शक्ति की स्थापना की ।

[ख] कुन्तक—इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) माना । और उसकी व्यापक व्याख्या करते हुये ध्वनि को उसके अन्तर्गत समाविष्ट करने का यत्न किया ।

[ग] महिमभट्ट—इन्होंने भी ध्वनि की आधारभूत—व्यञ्जना वृत्ति—पर ही कुठाराघात किया । इनके मत में शब्द की केवल एक शक्ति—अभिधा—ही हो सकती है । अभिधे-यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति अनुमान के द्वारा ही सम्भव है । यदि कोई नया नाम देना ही अभीष्ट है तो उसे 'काव्यानुमिति' कहा जा सकता है । परन्तु अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त यह नवीन व्यञ्जना शक्ति कहाँ से आ टपकी ?

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि महिम-भट्ट का यह सिद्धान्त शकुन के अनुमितिवाद जैसा ही है । अतः तर्क की कसौटी पर उक्त 'अनुमितिवाद' की तरह यह भी परास्त हो जाता है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ध्वनि-विरोधी आचार्यों को

प्रधान आपत्ति 'व्यंजना वृत्ति' पर ही है। अभिनवगुप्त तथा बाद को मम्मटाचार्य ने उक्त विद्वानों की शंकाओं का निराकरण करते हुए व्यंजना की स्थापना की है; उसका सारांश निम्न प्रकार है:—

१. प्रश्न उठता है कि यदि 'व्यंजना वृत्ति' स्वीकार न की जावे तो प्रतीयमान अर्थ का बोध कैसे होगा ?

यदि यह कहो कि अभिधा शक्ति से ! तो ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। या तो अभिधेयार्थ और प्रतीयमान अर्थ दोनों की प्रतीति साथ-साथ होगी अथवा क्रमिक-रूपेण। यदि साथ-साथ मानी जावे तो यह सर्वत्र सम्भव नहीं; जहाँ पर अभिधेयार्थ विधिरूप और प्रतीयमान निषेधरूप होता है वहाँ पर विधि-निषेध रूप विरोधी अर्थ एक ही व्यापार से एक साथ गृहीत नहीं हो सकते। क्रमिक रूप-वाली दूसरी अवस्था में भी एक ही अभिधा शक्ति प्रथम अभिधेयार्थ की प्रतीति कराकर 'क्षीण-शक्ति' हो चुकती है। पुनः प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं रहती।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने के लिए अभिधा शक्ति उपयुक्त नहीं। उसके लिए कोई अन्य शक्ति ही माननी पड़ेगी।

२. कुछ के मत में, 'प्रतीयमान' अर्थ की प्रतीति 'तात्पर्या' नामक शक्ति के द्वारा हो जायेगी। यह बात भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि तात्पर्या शक्ति के मानने वाले अभिहितान्वयवादी स्वयं ही इसको केवल पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध के अन्वय के बोध के लिए ही स्वीकार करते हैं। उनके मत में प्रथम पदों का अन्वित अर्थ उपस्थित होता है। तदनन्तर तात्पर्या शक्ति से पदार्थों का संसर्ग रूप वाक्यार्थ उपस्थित होता है। अतः अत्यन्त विलक्षण जो प्रतीयमान अर्थ है उसके बोध कराने की क्षमता उसमें नहीं।

३. और यदि यह कहा जाय कि प्रतीयमान अर्थ 'लक्षणा वृत्ति' से बोधित हो सकेगा; सो यह भी असंगत है।

"गंगायां घोषः" इस उदाहरण में गंगाप्रवाह में ग्राम की स्थिति सम्भव न होने से मुख्यार्थ बाधित है। तब लक्षणा द्वारा तत्सम्बन्धित "गङ्गातट पर ग्राम है" यह लक्ष्यार्थ बोधित होता है। इसका प्रयोजन है ग्राम की शीतलता एवं पवित्रता के आधिक्य का बोध कराना। यहाँ पर यह प्रयोजन रूप अर्थ ही व्यञ्जना वृत्ति द्वारा बोधित होता है। इस प्रकार लक्षणा की सिद्धि के लिए तीन कारण माने गये हैं—मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध और प्रयोजन। अब यदि यह कहा जाय कि प्रयोजन रूप अर्थ को लक्ष्यार्थ मान लिया जाय तो लक्षणा के उक्त तीन कारणों को भी दिखाना पड़ेगा। इस अवस्था में गङ्गातट रूप लक्ष्यार्थ को मुख्यार्थ मानना होगा, इसका बाध तथा प्रयोजन रूप अर्थ से सम्बन्ध दिखाना होगा और अन्य किसी प्रयोजन की भी खोज करनी पड़ेगी। स्पष्टतया स्वीकृत तथ्यों के विपरीत होने के कारण इन सबमें से एक की भी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः यही स्वीकार करना पड़ता है कि प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना वृत्ति को हो मान्यता देनी पड़ेगी; लक्षणा वृत्ति से उसकी पूर्ति सम्भव ही नहीं।

४. अन्तिम युक्ति यह है कि जब वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ सर्वथा अलग-अलग हैं तो उनकी प्रतीति के लिए वृत्तियाँ भी पृथक् ही स्वीकार करनी पड़ेगी। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद निम्न तर्कों से सिद्ध है—

(i) अनेक उदाहरणों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भेद देखा जाता है, जैसे एक विधि रूप है तो दूसरा निषेध रूप।

(ii) किसी वाक्य का वाच्यार्थ तो एक ही सम्भव होता है; परन्तु व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं। जैसे—अस्तं गतोर्कः (सूर्य

अस्त हो गया), इस वाक्य का वाच्यार्थ तो यह एक ही है परन्तु वक्ता आदि कि भिन्नता के कारण, अब सन्ध्या करनी चाहिए, भ्रमणार्थ चलो या काम बन्द कर दो आदि अनेक व्यंग्यार्थ होते हैं ।

(iii) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में काल-भेद भी होता है । प्रथम वाच्यार्थ तदनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

‘ध्वनि’ विषयक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यिक सिद्धान्त के इस प्रकार सामने आ जाने से वादों की प्रतिद्वन्द्वता कम हो गई और ध्वनि-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त को साथ लेकर साहित्यिक क्षेत्र में प्रायः सर्वमान्य सा हो गया । परवर्ती मम्मटाचार्य ने सभी सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन कर उसकी पुष्टि की । इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी ध्वनि की सर्वाङ्गपूर्णता को ही पुष्ट करते हुए रस को अधिक महत्त्व देने की चेष्टा की, जिसका विरोध पण्डितराज जगन्नाथ ने किया । सारांश यही है कि ध्वनि-सिद्धान्त की मूर्धन्यता प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार की । हिन्दी का अलंकार-साहित्य इसी सर्वमान्य परम्परा को लेकर चला । इसीलिए हम देखते हैं कि हिन्दी अलंकार-शास्त्र में समन्वित रस और ध्वनि की मान्यता को आवार मान लिया है । आवार्य शुक्ल का रसवाद ऐसा ही है ।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

गढ़-रचना बरुनी अलक चितवनि भौह कमान ।

आपु बंरुई ही चढ़ै तरुनि तुरंगमि तानि ॥—बिहारी॥

‘वक्रोक्ति’ शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में पहले से होता आया है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से ऐकमत्य नहीं रहा । विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में इसका प्रयोग किया है । साहित्य एवं लक्षणग्रन्थों में इसका जो प्रयोग हुआ है वह इस प्रसंग में दर्शनीय है:—

(१) बाण और अमरुक जैसे साहित्यिकों ने वक्रोक्ति का प्रयोग ‘परिहास-जल्पित’ के अर्थ में किया है । जैसे—**अभूमिरेषा भुजङ्ग-भङ्गिभाषितानाम्—कादम्बरी ।**

(२) दण्डी और भामह दोनों ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति (साधारण-इतिवृत्तात्मक शैली) से विपरीत बताते हुए क्रमशः ‘श्लेष-पोषित’ और ‘सभी अलंकारों का मूल’ माना है । जैसे:—

(क) श्लेषः सर्वासु पुष्पात् प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥—दण्डी ॥

(ख) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते—भामह ॥

(३) वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानते हुए एक नवीन अर्थ प्रदान किया, और कहा कि वक्रोक्ति सादृश्य पर आश्रित लक्षण ही है—“सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ।” वामन ॥

(४) रुद्रट् ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना और उसके दो भेद—
काकुवक्रोक्ति तथा श्लेषवक्रोक्ति—किये । रुद्रट् के अनुकरण में ही मम्मट आदि प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने इसे इसी अर्थ में स्वीकार कर लिया । इस प्रकार वक्रोक्ति शब्दालंकार के अर्थ में प्रायः सुनिश्चित होकर बैठ रहा ।

(५) परन्तु 'लोचन' में भामह को उद्धृत करते हुए अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति की निम्न व्याख्या की—“शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम् ।” अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रता इस बात में है कि वह लोक-प्रचलित रूप से भिन्न असाधारण रूप में सामने आये ।

यह व्याख्या कुन्तक के बड़े काम की मिद्ध हुई । उन्होंने वक्रोक्ति के इसी विस्तृत आशय को लेकर अपने मन्तव्य के विशाल प्रासाद को खड़ा किया । और अन्य मतवादी आचार्यों की तरह एक दिशा के छोर की सीमा में पहुँचकर इसे काव्यात्मा उद्घोषित किया । उनके अनुसार काव्य का लक्षण इस प्रकार है :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी ॥ व० जी० ॥

“सामञ्जस्यपूर्वक मिले हुए शब्द और अर्थ काव्य कहाते हैं । (कब ?) जबकि वे काव्यज्ञों के ‘आह्लादजनक’ और ‘वक्रतामय-कवि-व्यापार वाले’ बन्ध में विन्यस्त हों ।”

यहाँ काव्यत्व की तीन शर्तें हैं (१) काव्यज्ञों के लिए आह्लादकत्व, (२) शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य और (३) वक्रतामय कवि-व्यापार । इनमें तीसरा वक्रतामय कवि-व्यापार मुख्यतया दर्शनीय है, क्योंकि शेष दो शर्तों के मूल में यही है । सहृदयहृदयाह्लादकत्व एवं शब्दार्थसाम-ञ्जस्य दोनों का यही कारण है । इसकी व्याख्या वे निम्न प्रकार करते हैं :—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोन्येषु सत्स्वपि ।

अर्थः सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दरः ॥

उभावेतावलङ्कार्यो तयोः पुनरलङ्कृतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ व० जी० ॥

“विवक्षितार्थ का वाचक शब्द, और अपने चमत्कार के कारण सहृदयों का आह्लादक अर्थ, दोनों ही अलंकार्य हैं। इनकी अलंकृति ‘वक्रोक्ति’ ही है। (वक्रोक्ति क्या ?) कवि-कौशल-जन्य-भङ्गिमा रूप उक्ति ही वक्रोक्ति कही जाती है।” संक्षेपतः कवि की विदग्धता के कारण जो ‘असाधारण कथन’ या ‘विचित्र उक्ति’ है वही काव्य का एकमात्र अलंकार है, अद्वितीय कारण है और वक्रतामय कवि-व्यापार कहाता है। वक्रोक्ति को और स्पष्ट करते हुए वृत्ति में लिखते हैं—वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, वैदग्ध्यं कविमौख्यं भङ्गी विच्छित्तिः ॥ साधारण कथन से व्यतिरिक्त जो कथन का विचित्र प्रकार है वही वक्रोक्ति है—वक्रः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकवैचित्र्यम् ॥

इसी वक्रोक्ति को आचार्य कुन्तक ने काव्य का प्राण माना है—
वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् ॥ व० जी० ॥

कुन्तक के विवेचन का तात्पर्य यह है कि काव्य की सर्वोपरि विशेषता यही है कि वह सहृदय जनों को आह्लादक होवे। इस आह्लादकत्व का कारण कवि-कथन की असाधारणता है। कवि की उक्ति असामान्य या विशिष्ट होती है, जो कथन के ‘सामान्य’ प्रकार को अतिक्रान्त कर जाती है। उक्ति की इस असाधारणता या उक्तिचास्त्व का शास्त्रीय नाम ‘वक्रोक्ति’ है। वक्रोक्ति ही शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य लाकर उक्त वाञ्छित विशिष्टता पैदा करती है। इस कारण यही काव्य में जीवन-सञ्चार का हेतु है, काव्य का जीवन है—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् ।

इसके अतिरिक्त कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हुए भी कवि-प्रतिभा और कल्पना पर बहुत जोर दिया है, क्योंकि उन्होंने वक्रोक्ति (या यत्र कवि-व्यापार) का अर्थ ही वैदग्ध्य-जनित चार उक्ति किया है। यदि कवि में प्रतिभा नहीं होगी तो ‘कथन की असामान्यता’ विशुद्ध होकर उन्मत्त-प्रलाप की तरह उपहास्य ठहराई जायेगी और

वह सहृदय के लिए आह्लादक नहीं हो सकती। शब्दार्थ-सामाञ्जस्य का यही रहस्य है। अतः यह मानना पड़ता है कि प्रतिभा के बिना उक्ति में वैचित्र्य सम्भव नहीं। कवि का वैदग्ध्य ही उक्ति-वैचित्र्य का कारण है। अर्थात् कवि-प्रतिभा ही उक्ति-चारुत्व की जननी है। इस प्रकार उनके मत से काव्य में 'कवि-प्रतिभा का व्यापार' या 'कवि-व्यापार' बहुत महत्त्व का है। परन्तु 'कवि-व्यापार' के ऊपर उन्होंने अधिक प्रकाश नहीं डाला। सम्भवतः इसलिए कि काव्य-सृष्टि के लिए सर्वसम्मत कारण होने पर भी वह अनिर्वचनीय ही है। कवि-व्यापार की इस अनिर्वचनीय शक्ति का उल्लेख महाकवि पन्त ने भी 'पल्लव' की भूमिका में इस प्रकार किया है—“.....किसी के कुशल करों का मायावी स्पर्श उनकी (शब्दों और अर्थों की) निर्जीवता में जीवन फूंक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण-खण्डों का समुदाय न कह ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह काव्य कहने लगते हैं।”

एवं कुन्तक की स्थिति यह हुई कि 'वक्रोक्ति' काव्य का प्राण है। परन्तु वक्रोक्ति भी 'कवि-प्रतिभा के व्यापार' पर निर्भर है। अतः काव्य में 'कवि-व्यापार' की वक्रता का महत्त्व सर्वोपरि है। यह वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-लेखन तक में सम्भव है। इसलिए इसके उन्होंने छः भाग किये हैं—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रत्व (२) पदपूर्वार्ध-वक्रत्व (३) प्रत्यय-वक्रत्व (४) वाक्य-वक्रत्व (५) प्रकरण और (६) प्रबन्ध-वक्रत्व। कवि में प्रतिभा है, वैदग्ध्य है तो वह काव्य के प्रत्येक अङ्गोपाङ्ग में असाधारणता ला सकता है और काव्य सहृदयाह्लादक बन जाता है।

अब हम कुन्तक की दृष्टि से काव्य का एकाध उदाहरण देख सकते हैं :—

तत्तोरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।

वध्रे कामपरिज्ञामकामिनीगणहृत्पाबुताम् ॥

“इसके बाद अरुणोदय के कारण निष्प्रभ शरीर वाले चन्द्रमा ने काम-परितप्त कामिनी के कपोलों की पाण्डुता को धारण किया।” यहाँ पर कथनीय बात केवल इतनी है कि “सूर्योदय होने पर चन्द्रमा की आभा फीकी पड़ गई।” साधारण लोक-व्यवहार में इसका कथन इसी प्रकार सीधे ढंग से किया जाता है। परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न कवि इसी उक्ति को अपने वैदग्ध्य के बल पर कुछ दूसरे ढंग से कहेंगे। “सीधे ढंग” की अपेक्षा जो ‘दूसरा ढंग’ है वही वक्रोक्ति है। इस वक्रोक्ति की वजह से चन्द्रमा सचेतन की तरह व्यवहार करने लगता है और काम-परितप्त कामिनी की पाण्डुता को धारण कर लेता है। इसी से इस उक्ति में आह्लादकत्व आ जाता है। अतः यह काव्य है।

इसी काव्य के साथ वाल्मीकि रामायण की सुप्रसिद्ध राम की यह उक्ति—“न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।”—भी रखी जाती है। ‘जिस प्रकार वाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो,’ इस सामान्य अर्थ को “वह मार्ग बन्द नहीं हुआ है जिससे मरकर बाली गया है”, इस असाधारण रूप में प्रकट करने से उक्ति में काव्यत्व आ गया है। महाकवि निराला की एक उक्ति को देखिये :—

देखो यह कपोतकण्ठ, बाहु बल्ली कर सरोज

उन्नत उरोज पीन — क्षीण कटि—

नितम्ब भार — चरण सुकुमार—गति मंद मंद

छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का

देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है ॥

यहाँ पर वस्तु केवल इतनी है—‘यह रूप-राशि अति कमनीय है।’ कवि ने अपने निराले कथन-प्रकार में इसे यों बाँधा—“अंग प्रत्यंग की चारुता देखो, ऋषि-मुनियों तक का धैर्य छूट जाता है, तब देवारे भोगियों की गति तो निराली ही होगी।” कथन के इस निरालेपन को ही वक्रता कहते हैं। अतः यहाँ भी काव्यत्व है।

अलंकारवादियों की दृष्टि में यहाँ काव्यार्थापत्ति होने से काव्यत्व है, क्योंकि ऋषि-मुनियों के धैर्य के छूट जाने से भोगियों का धैर्य छूट जाना स्वतः सिद्ध है। और ध्वनिवादियों की दृष्टि से यह रस-ध्वनि का उदाहरण है क्योंकि वाच्यार्थ की अपेक्षा गृह्यार-रस-रूप-व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार है। अस्तु !

कुन्तक की वक्रोक्ति के स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रयोग उन्होंने बहुत व्यापक अर्थ में किया है। वक्रोक्ति नामक अलंकार भी है, पर यहाँ यह अति संकुचित अर्थ में—वक्त्रोक्ता उक्ति—प्रयुक्त हुआ है। भामह और अभिनव की व्याख्या के अनुसार वक्रोक्ति को उन्होंने विस्तृत अर्थ में ही ग्रहण किया है। भामह ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए बताया कि किसी भी बात को कहने के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। ये प्रकार या साँचे ही 'अलंकार' हैं, इनमें अपनी बात को ढालकर प्रस्तुत करने से उक्ति में काव्यत्व आ जाता है। अतः अलंकार ही काव्यात्मा रूप से स्वीकरणीय है। इसके आगे भामह यह भी स्वीकार करते हैं कि सभी अलंकारों का मूल वक्रोक्ति है—**वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः**। अलंकारवादी भामह और कुन्तक में केवल इतना ही भेद है कि काव्यात्मा की खोज करते हुए भामह 'अलंकारों' पर ही अटक गये, जबकि कुन्तक अलंकारों के भी मूल में रहने वाली 'वक्रोक्ति' तक जा पहुँचे। अतः कुन्तक को अलंकार-सम्प्रदाय का ही पोषक माना जाय तो कुछ हानि नहीं। इसी तथ्य को डाक्टर नगेन्द्र ने डाक्टर काणे के साथ सहमति प्रकट करते हुए लिखा है—“वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुन्तक ने अलंकारवादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन काव्य-ज्ञान के प्रकाश में व्यापक रूप देने का कुशल प्रयत्न किया था।”

कुन्तक ने अपने काव्य की परिभाषा देते हुए “**बन्धे व्यवस्थितौ**” भी कहा है। इससे रीति-सम्प्रदाय को भी अपने समीप लाने की चेष्टा

की है। वैसे भी इन दोनों सम्प्रदायों की दृष्टि बाह्य रूप पर ही होने से निकट ही है। आगे चलकर कुन्तक ने स्वयं ही गुणों की व्याख्या कवि-व्यापार के प्रकरण में की है। कवि-व्यापार के उन्होंने तीन भाग किये—श्रवण, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम मुकुमार आदि तीन मार्ग हैं जो कि माधुर्यादि गुणों पर आश्रित हैं। इस प्रकार इन्होंने गुणों को भी अपने काव्य-विवेचन में स्थान दे दिया।

इसी प्रकार रस और ध्वनि भी वक्रोक्ति की सीमा में समेटे गये हैं। वक्रोक्ति की परिभाषा में अति-व्याप्ति दोष भले ही हो, अव्याप्ति नहीं। अति-व्याप्ति इसलिए कि “जहाँ वक्रोक्ति है वहाँ काव्यत्व भी है” यह मान्यता आज स्वीकार नहीं की जा सकती; इससे सूक्तियाँ भी काव्य-कोटि में गिनी जाने लगेंगी। इसके विपरीत “जहाँ ध्वनित्व या रसत्व होगा वहाँ वक्रत्व भी होगा” ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं। ध्वनि व्यञ्जना वृत्ति के आश्रित होने से इतिवृत्तात्मकता में भिन्न होकर कवि-प्रतिभा सापेक्ष है। अतः वहाँ पर असाधारणता होना स्वाभाविक है। और रस के स्थल में भी इसी प्रकार की असामान्यता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि रस या भाव दीप्ति के अवसर पर उक्ति में विशिष्टता आ ही जाती है। वाणी भावानुकूल होकर विलक्षणता को हठात् वरण कर लेती है। हाँ, क्रम के सम्बन्ध में कुन्तक वैज्ञानिक तथ्य से दूर है। वे वाणी की विलक्षणता के कारण भावों की विलक्षणता मानते हैं, जबकि सत्य यह है कि भावों की दीप्ति के कारण वाणी में अनुकूल आवेग पैदा हो जाता है।

इस प्रकार कुन्तक ध्वनि-विरोधियों की प्रभाववादी कोटि में न होकर ध्वनि को भाक्त (गौण) या लक्षणा-प्रसूत मानने वालों की श्रेणी में आते हैं। और ‘रस’ के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य यही है कि वह वक्रोक्ति का एक तत्त्व-मात्र है; अनिवार्य नहीं। वाक्य-वक्रता के प्रसंग में इन्होंने रस और रसवदादि की समीक्षा की है।

सार रूप में कुन्तक की मान्यताएँ निम्न हैं :—

- (i) जहाँ वक्ता होगी वहाँ काव्यत्व होगा । जहाँ वक्ता नहीं व काव्यत्व नहीं । अतः 'स्वाभावोक्ति' में काव्यत्व नहीं सकता ।
- (ii) काव्यत्व के लिए वक्ता (उक्तिवैचित्र्य) अनिवार्य है । य काव्यत्वाधिवास उक्ति में है, व्यंग्य वस्तु या भाव में नहीं
- (iii) वक्रोक्तिवाद कवि-प्रतिभा के व्यापार अथवा वैदग्ध्य प आश्रित है । अतः यह बहुत व्यापक है ।

यद्यपि कुन्तक ने अपने मत के मण्डन में अच्छी सूझ-बूझ और विवेचन में मौलिकता का परिचय दिया है तो भी उनका मत उन्हीं त सीमित रहा, विस्तार न पा सका । इसका सबसे बड़ा कारण यह कि वक्ता की परिभाषा में अतिव्याप्ति का भारी दोष था, जो 'ध्वन्य लोक' जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की विवेचना के सामने मान्य न हो सका । उस काव्य का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन उपस्थित कर ऐसे मतों के लिए अवकाश ही न रहने दिया ।

काव्य के वाद

स्वच्छन्दतावाद (Romanticism)

मनुष्य की भाषा एक सामाजिक संगठन होने के कारण स्थायी संस्था है। भाषा का स्थायित्व ही उसकी उपयोगिता बढ़ाता है। भाषा ही हमारे पारस्परिक व्यवहार की साधिका है। अतः पण्डितों तथा वैयाकरणों का यह प्रयत्न रहता है कि भाषा में नवीनता या परिवर्तन न आने पावे। इस सबके होते हुए भी भाषाविज्ञान हमें यही बताता है कि भाषा का वेग अनियन्त्रित है। भाषा का हमारे दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष लगाव है, रात-दिन के काम-काजों में वह हमारी सहचरी है। आन्तरिक गूढ़ सन्देश भाषा के माध्यम द्वारा ही प्रकाश में आते हैं। ऐसी अवस्था में जीवन की तरह भाषा भी परिवर्तनशील ठहरती है।

यदि भाषा में यह परिवर्तनशीलता या विकासशीलता न होवे तो क्या उसमें वह सजीवता हमें मिल सकती है जिसकी कि साहित्यज्ञ खोज में रहा करते हैं? कदापि नहीं। वह एक बन्द सरोवर के पानी की तरह ताजगीरहित होगी। संसार की न जाने कितनी भाषाएँ अपने वैभव और उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँचकर जड़ता के बोझ से दब गईं; तब उनकी संवृद्धि भी उनके जीवन की रक्षा न कर सकी, क्योंकि उनमें गतिशीलता का प्राणतत्त्व शेष न रह गया था। संसार की भाषाओं के इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक युगों में भी यही बात देखने में आती है। पण्डितों और विद्वानों की प्रौढ़ भाषा सदा ही पीछे छूटती रही और लोक में स्वाभाविक गति से फलने-फूलने वाली वाग्धाराएँ क्रमशः आ-आकर प्रतिष्ठित होती रहीं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—“प्राकृत के पुराने रूपों से लगी आभ्रंश जब लद्धड़ होने लगी तब ‘शिष्ट-काव्य’ प्रवर्तित देशी भाषाओं में शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका।”

जो बात भाषा के सम्बन्ध में ऊपर कही गई है, भावों के विषय में भी लागू होती है। भावों का—वैसे तो—अपना स्वरूप चिरनवीन और सदा मर्मस्पर्शी होता है परन्तु जब साहित्यिक पण्डित भाषा की तरह भावों के क्षेत्र में भी सीमाबद्ध होकर आकर्षणहीन हो जाते हैं तो भावों का चमत्कार निस्तेज होकर मन्द पड़ जाता है। भावों का अनन्तलोक ही साहित्य का प्राण है। जब परम्परागत रूढ़ियों और परिपाटियों का जाल इतना सघन हो जाता है कि उसकी जटिलता में भावक्षेत्र तक उलभकर निष्प्राण होने लगता है तो साहित्यिक-सन्निपात की वह शोचनीय दशा सामने आती है जिसके उद्धार में नवीन प्रतिभाशाली कवि ही समर्थ होते हैं।

विद्वत्समाज की गूढ़ साहित्यिक कृतियाँ जब रूढ़ियों के पङ्क्त में घँसकर निश्चल एवं गतिहीन हो जाती हैं तब भी लोक की अपढ़ जनता में लोक-गीतों की दिव्य मनोहारी छटा अपने स्वाभाविक विकास के कारण मदमाती चाल से ठुमुकती है। जीवन के साक्षात् सम्बन्धों के कारण उद्भूत रमणीय भावावली प्रचलित चालू भाषा में अलंकृत हो आये आती है; जिसके कारण यह इतनी शोभाशाली होकर व्यापकता प्राप्त करती है और साहित्यिकता के पद पर अभिषिक्त हो जाती है।

जिन प्रतिभाशाली कवियों में पण्डितों की बँधी हुई रूढ़ियों से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र में विचरण करने की यह प्रवृत्ति लक्षित होती है, वे ही स्वच्छन्दतावादी कवि कहते हैं, और नवीन साहित्य के निर्माता के पद पर अधिष्ठित होते हैं। उनकी कृतियाँ लोकानुमोदित शैली में सार्वभौमिक भाव-भूमिकाओं में अग्रसर होती हैं।

यह काव्यगत क्रान्ति का अपना अटल नियम है। प्रत्येक भाषा के साहित्यिक इतिहास में इस प्रकार की व्यवस्था आती है; तब प्रकृति के स्वाभाविक नियमों के बल से काव्यात्मा रूढ़ियों के जाल को काटकर

स्वतन्त्र वातावरण में उन्मुक्त हो विचरण करती है। इसी कारण सच्चे स्वच्छन्दतावादी कवियों की वाणी में वह आकर्षण होता है जो लोक को भावविभोर कर गद्गद-कण्ठ कर देता है।

स्वच्छन्दतावादी कवि का प्रधान कर्तृत्व यह होता है कि वह लोक-प्रचलित स्वाभाविक भावधारा के ढलान की नाना अन्तर्भूमियों को परखकर काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करे।

स्वच्छन्दतावादी कवियों की सर्वाधिक विशेषता काव्य-प्रतिभा है। रुढ़िगत अनुकरणप्रियता उनमें नहीं होती। पुरातन काव्य-भण्डार के अनुशीलन से उनकी प्रतिभा एक सुनिश्चित लोक का अनुसरण नहीं करती अपितु नवीन प्रेरणा पाती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष लोकानुभव उन्हें वह स्फूर्ति प्रदान करता है जिसके बल पर उनका काव्य अलौकिक नवीनता धारण करता है।

परन्तु एक बात सुनिश्चित है। प्रतिक्रिया के रूप में उठने वाले इतर साहित्यिक वादों से स्वच्छन्दतावाद को पृथक् रखना पड़ेगा क्योंकि इसकी महत्ता इसी में है कि यह साहित्यिक सामञ्जस्य के रूप में उद्भूत होता है, अन्व-प्रतिक्रिया के रूप में वैपरीत्य की सीमारेखा को नहीं पहुँचता। अस्तु !

समाहाररूपेण प्राकृतिक स्वच्छन्दतावाद की रूपरेखा को निम्न प्रकार रखा जा सकता है:—

(i) इसमें वे ही अभिव्यञ्जना प्रणालियाँ स्वीकृत की जाती हैं जिनका स्वभावतया लोकसामान्य में विकास हो चुका है क्योंकि उन्हीं में सार्वजनिक मन रमण पाता है। जनसाधारण जिस रीति से अपने भावों को ढालता आ रहा है स्वच्छन्दतावादी कवि उन्हीं को अपनाता है। लोकगीतों की लय इस दिशा में पथप्रदर्शन करती है।

(ii) प्रकृति के स्वरूपनिरीक्षण में लोकपरिचित तथा रागात्मकता

का कवि को खूब ध्यान रहता है । अर्थात् स्वच्छन्दतावादी कविता में लोकपरिचित प्राकृतिक दृश्यों और पशु-पक्षियों का ही समावेश रहता है । अपरिचित पेड़-पौदों और नदी-पर्वतों से उसे अजब नहीं बनाया जाता । सर्वसाधारण लोगों के हृदय का जिन पेड़-पौदों, लता-गुल्मों, पशु-पक्षियों और इतर प्राकृतिक विभूतियों से राग हो चुका है, उन्हें ही इसमें स्थान दिया जाता है । वर्तमान छायावादी कविता में ऊपर की दोनों विशेषताओं का अभाव है । इसी कारण उक्त काव्य का लोक में वैसा स्वागत न हुआ जैसा होना आवश्यक था । और इसीलिए उसमें नवीनता की प्रचुर मात्रा के होने पर भी वह स्वच्छन्दतावादी काव्य के अन्तर्गत नहीं ।

- (iii) उक्त दोनों विशेषताओं के अतिरिक्त सबसे अनोखी बात इस काव्य में भावों की उद्भावना के सम्बन्ध की है । इसमें बँधी-बँधाई बहुशः ग्रथित भावावली का पीनःपुन्येन पिष्टपेषण नहीं किया जाता अपितु लोकवचि का प्राकृतिक रुझान जिन मार्मिक भावों की ओर रहता है उनकी अन्तर्भूमियों को परखकर उनसे सुसंगत भावों की नई-नई उड़ान को लेकर कवि आगे बढ़ता है । इन भावों की मनोहारिता में नित्य नवीनता के दर्शन होते हैं; और अपने स्वतन्त्र विकास की गति के कारण स्वच्छन्दतावाद की रम्य परिधि को अलंकृत करते हैं ।

संसार के साहित्य के इतिहासों पर दृष्टि डालने से हमें यह भी पता चलेगा कि स्वच्छन्दतावाद अपने आप में कोई वादगत वस्तु नहीं । वस्तुतस्तु इसे काव्य की गति की एक स्वाभाविक कोटि मान सकते हैं; क्योंकि स्वच्छन्दतावाद का मूल तत्त्व ऐसी काव्यगत मौलिकता है जिसका समादर लोक में भाव और शैली की अनुकूलता के कारण होता है । अतः काव्य की धारा अपने वेग में नवस्फूर्ति लाने के लिए समय-समय

पर इस प्रकार के 'प्रपातों' की संयोजना स्वभावतः करती रहती है। फलतः इसे विशिष्ट विचारधारा के आग्रह से समुत्पन्न शुद्ध वाद के रूप में नहीं लिया जा सकता। हमारे हिन्दी-साहित्य में कबीर की स्वच्छन्द मौलिकता प्रसिद्ध है; परन्तु उनकी काव्यधारा अपने समय की किसी रूढ़ काव्यधारा के समानान्तर न थी। माधुर्यभाव से ब्रह्म को प्रियतम (माशूक) मानकर भावोद्गार प्रदर्शित करने में इन्होंने विशेष सूझ-बूझ का परिचय दिया। अभिव्यञ्जन की प्रणाली इनकी वही थी जो उस समय सौभाग्य से काव्य और लोक दोनों में प्रचलित थी। अतः कबीरदास जी के सम्बन्ध में यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने प्रचलित काव्यधारा से पृथक् अपना नया मार्ग निकाला तो भी उनकी स्वच्छन्दवादिता अंशतः स्वीकार करनी पड़ती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी स्वच्छन्दवादिता के प्रकृत लक्षण के अन्तर्गत नहीं आ सकते। नवीन काव्यधारा के प्रथम उत्थान में इन्होंने भावक्षेत्र में नवीनता का परिचय अवश्य दिया। काव्य के पुराने विषय रीतिकालीन थे, लोगों को उनमें रुचि न रह गई थी। इन्होंने काव्य में नवीन विषयों का समावेश कर लोकजीवन के मेल में बिठाया। परन्तु काव्य की विधान-प्रणाली को इन्होंने रीतिकालीन ही रखा। अतः केवलमात्र भावदृष्टि ही वे स्वच्छन्दतावादी कहे जा सकते हैं।

अच्छी स्वच्छन्दवादिता के दर्शन हमें काव्य की नूतन धारा के द्वितीय उत्थान में होते हैं। प्राचीन रीतिकालीन कविता रसों और अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही होती थी। छन्द भी लगभग गिने-चुने रहते थे। उस सीमित परिपाटी में कवियों को अपनी प्रतिभा का आलोक फैला सकने का स्वच्छन्दतापूर्वक अवकाश न था। जैसा कि कहा जा रहा है कि भारतेन्दु बाबू भी इस स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आ सके, यद्यपि उनकी प्रतिभा अवश्य ही नवीनता-सम्पन्न थी। सर्वप्रथम श्रीधर पाठक ने "एकान्तवासी योगी" निकाला। इसमें स्वच्छन्दतावाद की सम्पूर्ण विशेषताओं का रुचिर एवं मनोमत्त समावेश मिला—

(क) इसकी भाषा और लय वही थी जिसे लोक अपनाकर चल रहा था, अर्थात् खड़ीबोली तथा प्रचलित छन्दों की तर्ज ।

(ख) भावदृष्ट्या भी किसी के प्रेम में योगी हो जाने की कल्पना "सार्वभौम-मार्मिकता" से परिपूर्ण थी ।

अतः यह स्पष्टतया स्वीकार किया जायेगा कि भाषा, शैली और भाव तीनों की दृष्टि से पाठकजी का उपक्रम सर्वथा नवीन एवं कीशल-पूरा और लोकरुचि के अनूकूल था ।

परन्तु पाठकजी द्वारा प्रशस्त दिशा में हिन्दी-काव्य-धारा चल न सकी । इनके सहयोगियों में रामनरेश त्रिपाठी जी का ही नाम लिया जा सकता है । इसका कारण यह था कि संस्कृत-साहित्य की पिछली परिपाटी के संस्कारों को लेकर आने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी हमारे साहित्य के कर्णधार के पद पर प्रतिष्ठित हुए । इनके प्रभाव के कारण रीतिकालीन परिपाटी के जाल से हिन्दी-काव्य ने मुक्ति पाई; पर संस्कृत-साहित्य की वाद की परम्पराओं से सम्बन्ध न त्यागा जा सका । फलतः तथाकथित द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता, गद्यवत् रुझान और बाह्यार्थ-निरूपकता का चलन हुआ ।

तृतीय उत्थान में हिन्दी-काव्य-धारा इसी की प्रतिक्रिया में चलकर विदेशी अनुकृत रुढ़ियों और वादों में जा फँसी । यह प्रवृत्ति निःसन्देह आस्वास्थ्यकर सिद्ध हुई । यदि प्रतिक्रिया का आवेग इतना उग्र न होता तो रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडे आदि द्वारा स्वाभाविकरीत्या विकसित की जा रही हिन्दी-काव्य-धारा, जिसमें स्वच्छ-न्ततावाद का सम्यक् आभास था, के ही दर्शन तृतीय उत्थान में होते । इस अवस्था में तृतीय उत्थान की कविता वैदेशिक साहित्य के प्रभाव की समझती हुई काली घटा से आच्छादित न दीखती । हमारे साहित्य की वाग्धारा बनी-बनायी एक प्रणाली में एकबारगी बह पड़ी, स्वाभाविक-रीत्या अन्वेष्टित मार्ग में न जा सकी ।

गुप्त जी, त्रिपाठी जी और पांडे जी जिस स्वाभाविक काव्यधारा को स्वच्छन्दतापूर्वक आगे बढ़ा रहे थे उसमें निम्न विशेषताएँ थीं:—

- (i) इनके काव्यों की भावभूमि जगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्रों में गृहीत थी ।
- (ii) ये प्रकृति के सामान्य, असामान्य सभी लोक-परिचय रूपों का समावेश अपने काव्य में कर रहे थे ।
- (iii) और भाषा को माँजकर उसकी अभिव्यञ्जनशैली में लाक्षणिकता, चित्रोपमता और सूक्ष्मता भर रहे थे ।

यह सब स्वच्छन्दता के पथ पर स्वाभाविक गति से हो रहा था, अतः स्वच्छन्दतावाद के निकट समझा जा सकता है ।

अब, जबकि छायावादी-रहस्यवादी ज्वरों की संक्रमणता कुछ कम हुई है तो काव्य की गति के नियामक नियमों के अनुसार छायावादी प्रभाव की प्रतिक्रिया सामने आई । उसके भावतत्त्व और शैलीतत्त्व दोनों में ही अपूर्णता दिखने लगी; अतः वायवीय भाववस्तु और सूक्ष्म एवं सीमित काव्योपादानों के स्थान पर व्यवहाराश्रित सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियाँ तथा सुनिश्चित बौद्धिक धारणाएँ, मूर्त-सघन विविध काव्यसामग्री के साथ आग्रहपूर्वक सामने लायी जाने लगीं । आचार्य शुक्ल के निष्कर्षों के अनुसार तृतीय उत्थान में खड़ीबोली की काव्य-धारा निम्न तीन धाराओं में बही:—

(१) द्विवेदीकाल की क्रमशः विस्तृत और परिष्कृत होती हुई धारा ।

✓(२) छायावाद कही जाने वाली धारा ।

✓(३) और स्वाभाविक स्वच्छन्दता को लेकर चलती हुई धारा ।

इसमें स्वच्छन्दता को लेकर चलने वाली तीसरी धारा के लेखकों में दो श्रेणियाँ स्पष्टतया प्रतीत होती हैं । प्रथम कक्षा के कवि सचेष्ट होकर सामाजिक और राजनैतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन

की व्याख्या और प्रचार-प्रसार में तत्पर हैं। ये 'प्रगतिवादी' नाम से अभिहित हैं। दूसरे प्रकार के कवि राजनैतिक गतिविधियों के प्रति सजग रहते हुए भी साहित्यिक जीवन को ही प्रधान बनाकर काव्य की वस्तु और शैली-विधान में परीक्षात्मक प्रयोग करते चले जा रहे हैं। ये प्रयोगवादी कवि (Empericist) हैं। इनका साहित्यिक रूप ही प्रधान है, किसी राजनैतिक बन्धन में नहीं बँधे। इनका मुख्य आग्रह काव्य की वस्तु और शैली में निरन्तर नवीन प्रयोग करते चले जाना है। नूतनता से इन्हें विशेष मोह रहता है।

इस समय हमारी हिन्दी-कविता पर से में छायावाद का खुमार उतर चुका है और प्रगतिवादियों तथा प्रयोगवादियों का ही बोलबाला है। प्रगतिवादी कवियों का तो स्पष्टतया उद्घोषित लक्ष्य भौतिक है, अतः यहाँ उनके विषय में विचार करना अभीष्ट नहीं। प्रयोगवादी शुद्ध साहित्यिक हैं, अतः उनकी गतिविधि की परीक्षा इस दृष्टि से करनी आवश्यक है कि वे कहाँ तक शुद्ध स्वच्छन्दतावाद के मार्ग में अग्रसर हैं। क्योंकि यह बात ऊपर कही गई है कि शुद्ध स्वच्छन्दतावाद ही काव्यगत मन्यरत्व को दूर कर उसे स्वस्थ गति प्रदान करता है।

काव्य के क्षेत्र में यों तो सदा-सर्वत्र नूतन प्रयोग होते रहे हैं और उनका महत्त्व भी रहा ही है परन्तु हिन्दी में इस समय इस दृष्टि के कवि विशेष रूप से नवीन अन्वेषणों और प्रयोगों में तल्लीन हैं। इसका कारण यही है कि छायावाद के विपरीत चरम सीमा तक जाकर दिखा देने की लालसा उनमें प्रबल है। अतः वे छायावाद की स्वीकृत-विशेषताओं के सामने सर्वथा विपरीत भावना वाली मान्यताएँ क्रमशः रखते चले जा रहे हैं। छायावाद सौन्दर्य-बोध को जिस कोमलता एवं मसृग्गता की सीमा में बाँधकर रखना चाहता है इसे वह स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य-बोध व्यापक भावना से ग्रहण करना उचित है। जीवन में कोमल और रुक्ष, स्थूल और सूक्ष्म सभी आते हैं,

अतः सौन्दर्य भी अपने रूप में सर्वत्र व्यापक है। छायावादियों की रोमानी सौन्दर्य-सत्ता काल्पनिक, भावगत और एकदेशीय है। वर्तमान जीवन विचार के प्रत्येक क्षेत्र में सन्देहवादी है, प्रत्येक पुरातन रूढ़ कल्पना सन्देह की शरण पर रखी जा रही है; तब रोमानी-सौन्दर्य-बोध ही क्योंकर अपने पुराने रूप में स्वीकार कर लिया जाय ? अतः उनकी दृष्टि में सौन्दर्य की चेतना अत्यन्त व्यापक और गत्यात्मक है, जो जीवन के साथ विकास पाती रहती है। जैसे मधुर और कोमल उसके रूप हैं उसी तरह अनघड़ और परुष भी।

इसी प्रकार प्रयोगवादी यहाँ तक आगे बढ़ते हैं कि सभी पुराने काव्योपादानों को अनायास अमान्य ठहराते हैं। और पुराने कवि जिस भावुकता से वस्तु को लेने के आदी हो गये थे उसके विपरीत ये शुद्ध वस्तु-गत दृष्टिकोण से ही वस्तु को प्रस्तुत करते हैं; उस पर अपने मन की रंगत नहीं चढ़ाते। वस्तु को वस्तुगत रूप में ही देखने के कारण वे यह भी आवश्यक मानते हैं कि उसे यथातथ्य रूप में ही अङ्कित किया जाय। फलतः प्रयोगवादियों में जो अन्तर्मुख कवि हैं वे अपने अन्तस् की उलझनों को यथातथ्य रूप में ही प्रस्तुत करते हैं; जो अवश्य ही अस्पष्ट और दुरुहता के दोष से युक्त होती है।

इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान, राजनीतिकशास्त्र और भौतिक विज्ञान आदि के अध्ययन से उद्भूत व निष्पन्न बौद्धिक धारणाओं को अपने काव्य का मुख्य उपादान बनाते हैं। इसके कारण उनकी कविता में कठिन बौद्धिकता छाई रहती है।

भावतत्त्व के ही समान वे शैली-विज्ञान में भी सर्वथा नवीन प्रयोगों की लड़ी लगा देते हैं। भाषा के एकान्त व्यक्तिगत प्रयोगों तक का साहस करते हैं, जिससे भाषा की उपयोगिता का मूल तत्त्व—सार्वजनीनता—ही विनष्ट हो जाती है। प्रेषणीयता के लिये साधारणीकरण जैसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को अपनी धुन में असमीचीन समझ त्याग देते हैं,

जिससे मानव-सुलभ सह-अनुभूति की मान्यता के उपयोग से वञ्चित होकर “विशेष” को साधारण रूप में प्रस्तुत न कर विशेष रूप में ही रखते हैं। छन्द का विधान तो उनके लिये कोई महत्त्व रखता ही नहीं।

संक्षेप में उनकी कविता का सैद्धान्तिक आधार निम्न प्रकार ढूँढा जा सकता है :—

- (i) प्रयोगवादी पुरातन काव्योपकरणों को अमान्य ठहराकर नवीन की खोज में लगे रहते हैं।
- (ii) वस्तुगत दृष्टिकोण के कारण यथातथ्य चित्रण का आग्रह करते हैं।
- (iii) काव्य में से रागात्मकता के सर्वमान्य तत्त्व को हटाकर बुद्धि-तत्त्व को प्रमुखता से प्रतिष्ठित करते हैं।
- (iv) भाषा और छन्द-विधान में वैयक्तिक प्रयोगों की बहुलता से नवीनता लाने का प्रयत्न करते हैं।

इन अद्भुत उपक्रमों के कारण उनकी कविता दुरूह से दुरूहतर होती जाती है। ऐसी अवस्था में हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि प्रयोगवादी कविता सच्चे स्वच्छन्दतावाद से कोसों दूर है। यह एक प्रतिक्रिया की भावना से बादगत आग्रह के पङ्क्त में फँसी हुई है। स्वाभाविकता का इसमें कुछ भी स्थान नहीं। नवीनता की खोज की धुन में नवीन प्रयोगों को ही उद्देश्य बनाकर छायावादी मान्यताओं की विपरीत दिशा में भागी चली जा रही है। अतः इसमें हमें केवल काव्यगत तत्त्वों का क्रमविपर्ययमात्र दीखता है। योजनानुसार किसी सुसज्जित कमरे की सामग्री को अस्त-व्यस्त रूप में बखेरकर यह कहना कि हमने इसे नए रूप में व्यवस्थित किया है और यह भी एक क्रम है, कुछ जँचता नहीं; केवल तार्किक चमत्कार-सा भासित होता है।

आयावाद : रहस्यवाद

जब किसी साहित्यिक क्षेत्र में कवियों की सामूहिक प्रवृत्ति, चरम सीमाओं का स्पर्श करने लगती है, तब प्रगति के अभिलाषी कवियों के मन में एक प्रकार का विक्षोभ-सा जागृत हो **प्रतिक्रियाओं का** उठता है। अन्त में यह विक्षोभ निर्बाध ऐका-
ध्विलेखण न्तिक उत्कटता के कारण असह्य हो जाता है, और ये कवि स्वतन्त्र काव्यधारा को जन्म देने के लिए आगे बढ़ते हैं। इनके मन में स्वभावतः प्रतिक्रिया की भावना होती है जिससे यह नवोत्थित काव्यधारा भी नवीन ऐकान्तिक वाद की दलदल में जाँसती है। इस क्रम से साहित्य के इतिहास में प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उठने वाली काव्यधाराओं की उत्पत्ति होती रहती है।

सच्चे काव्यमर्मज्ञ इन धाराओं की अल्पकालिकता से परिचित होते हैं, वे किसी वादग्रस्त धारा का पल्ला नहीं पकड़ते, अपितु स्वच्छन्द काव्य-मार्गों का ही अनुसरण करते हैं। अतः उनके काव्य में सौम्य रुचिरता के दर्शन होते हैं। और वही काव्य स्थायी साहित्य का रूप धारण करता है। साहित्य की गति की स्वस्थता का लक्षण स्वतन्त्र प्रतिभा की प्रेरणा से चलनेवाले इन्हीं कवि-पुङ्गवों के कौशल में लक्षित होता है। तथाच इन्हीं के प्रताप से वादग्रस्त धारा के साथ-साथ काव्य की निर्मल धारा भी बहती रहती है।

उपर कुछ फुटकर लोग अपनी सामान्य बुद्धि के कौशल से नवीन एवं पुरानी काव्यधाराओं में रुढ़ियों को खोजकर काव्य-रचना के सरल आरम्भों का आविष्कार करते रहते हैं, और उनके बल पर कृतियों के

ढेर लगा सगुन और स्याही के डाम बढ़ाते हैं। इनके घरेलू उपचार से रुढ़िग्रस्त कविता भी जीवित दिखाई देती है। इस प्रकार साहित्य के काव्य-क्षेत्र में वादमूलक, स्वच्छन्द और रुढ़िग्रस्त तीनों प्रकार की धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होती हुई चली जाती हैं।

हमारे हिन्दी-साहित्य की गति भी, ऐकान्तिक प्रतिक्रियाओं की प्रेरणाओं द्वारा समय-समय पर उद्भूत होने वाले वादों से, प्रभावित हुई है। प्रतिवर्तनों (Reactions) की लम्बी सृङ्खला में विकास का क्रम भी असन्दिग्ध रूप से पाया ही जाता है; क्योंकि सजीव गति का मिश्रित परिणाम 'विकास' ही होता है। द्विवेदी-युग में पुराने ढर्रे की रीति-कालीन कविता की प्रतिक्रिया में खड़ीबोली की बाह्यार्थनिरूपक और इतिवृत्तात्मक कविता का चलन हुआ था। तदनन्तर नई धारा के तृतीय उत्थान के साथ सूक्ष्म स्वानुभूतिनिरूपकता को लेकर चलने वाली छायावादी काव्यधारा का जन्म, विकास और यौवन सामने आया, और अब इसके भावप्रधान वायवीपन से उकताकर भौतिक मानों को प्रश्रय देने वाली प्रगतिवादी धारा बह चली है। इन एक के बाद एक उठने वाली धाराओं की प्रवृत्तियों को यदि आमने-सामने रखा जाय तो हम बड़े आश्चर्य के साथ देखेंगे कि पूर्व धारा की प्रतिक्रिया में उत्तर धारा किस तीव्रता एवं आग्रह के साथ दूर तक गई। निम्न चित्र हमारे कथन की प्रामाणिकता को स्पष्ट कर सकेगा :—

रीतिकालीन काव्य	द्विवेदीयुगीन काव्य	छायावादी काव्य	प्रगतिवादी काव्य
१. शृङ्गारिक विषयों में परिसीमिता ।	१. अनेक विषयस्पर्शी ।	१. परिसीमितविषया ।	१. सुनिश्चितविषया ।
२. दरबार-कालिता ।	२. जन-सम्पर्कवाली ।	२. कवि-सम्प्रदाय में ही अवस्थिता ।	२. जन-सम्पर्क में आने वाली ।
३. रुढ़िग्रस्ता ।	३. प्राचीन शैलियों व छन्दों में सुसज्जिता ।	३. नई शैलियों व छन्दों में सुसज्जिता ।	३. सर्वथा नई शैलियों में छंदबंधन से मुक्त होकर
४. व्रजभाषा में ।	४. इतिवृत्तात्मिका एवं बाह्यार्थनिरूपिका ।	४. भावप्रधाना व स्वा-नुभूति-निरूपिका ।	४. वस्तुप्रधाना और भौतिक मानों से परीक्षिता ।
५. सरस-कोमल-कान्त-पदावली-संवलित ।	५. रस खड़ीबोली में अपरिमाणित-शुष्क-खड़ेपन से युक्त भाषा में ।	५. ललित खड़ीबोली में ।	५. व्यावहारिक बोली में ।
		६. सरस-कोमल-कान्त-पदावली-संवलित ।	६. परमाणित व्यवहारोपयोगी भाषा में ।
		७. अभिव्यञ्जन की नवीन शैलियों से युक्ता ।	७. परिमाणित नव-नव-शैली-संयुक्ता ।
		८. आदर्शवाद से प्रभाविता	८. यथार्थवादानुगामिनी
		९. वायवीपन व सूक्ष्मता के आग्रह वाली ।	९. स्थूलोन्मुखी ।
		१०. द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में सम्भूता ।	१०. पलायनवाद की प्रति-क्रिया में सम्भूता ।

इस निबन्ध का विषय छायावाद है। हिन्दी में छायावाद के चलन के जो कारण कहे जाते हैं वे प्रतिक्रिया-मूलक हैं। ऊपर के चित्र के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो छायावादी काव्य भी प्रति- जायगी। द्विवेदी-कालीन कविता अपनी इति- क्रिया रूप में हमारे वृत्तात्मकता तथा अपरिमार्जित भाषा के कारण यहाँ च.।। रूक्ष और निष्प्राण थी। इसी की प्रतिक्रिया में छायावाद उठा। सुश्री महादेवी जी वर्मा ने इसी बात को इन शब्दों में स्वीकार किया है—“उसके (छायावाद के) जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्यता का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।” छायावादी काव्य का वेग इतना उग्र था कि उसने भाव, भाषा और शैली में एक-साथ सहसा आमूलचूल शतप्रतिशत क्रान्ति ला दी। ऐसी सर्वतोमुखी क्रान्ति हमारे साहित्य में अश्रुतपूर्व थी। इसके लिए तात्कालिक हिन्दी-संसार तैयार न था; इसी कारण वह उसे बहुत देर में ग्रहण कर सका।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्वितीय उत्थान के अन्त में बंगला तथा अंग्रेजी साहित्य से परिचित लोग, तथा व्रजभाषा काव्यमर्मज्ञ भी, छायावादी प्रवृत्ति के समान रूप से खड़ीबोली की कविता में पद-प्रारम्भ के समय हमारे जालित्य, कल्पना की उड़ान, अभिव्यञ्जना का काव्य की स्थिति चमत्कार तथा शैलीवैचित्र्य की कमी का अनुभव करने लगे थे। इस कमी की पूर्ति की आकांक्षास्वरूप हिन्दी-कविता को सुष्ठुरूप में परिमार्जित करते हुए उसे आवमयी एवं मार्मिक बनाने का काम मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय ने प्रारम्भ कर दिया था। इसे देखकर यह निश्चय से कहा जा सकता था कि हिन्दी-कविता शीघ्र ही नाना विषयस्पर्शी भावमूमियों

पर चलकर कल्पना व संवेदना के योग से नूतन व्यञ्जक शैली में सम्य-
क्तया प्रस्फुटित हो सकेगी। सुक्ल जी ने कहा है—“छायावाद के पहले
नये-नये मार्मिक विषयों की हिन्दी-कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर
थी तो आवश्यक और व्यञ्जक शैली की, कल्पना और संवेदना के अधिक
योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था
उसका लक्ष्य केवल अभिव्यञ्जना की रोचक प्रणाली का विकास था जो
धीरे-धीरे अपने स्वतन्त्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर
पाण्डेय आदि के द्वारा हो रहा था।” परन्तु इधर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की

पाश्चात्य आध्यात्मिक रहस्यवाद के ढंग की
छायावाद के बचे-बनाये ‘गीताञ्जलि’ तथा बंगीय भाषा में ईसाई सन्तों
मार्ग पर हमारे काव्य के छायाभास (Phantasmata) और
की धारा बह चली योरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीक-
वाद (Symbolism) की अनुकृति में
निर्मित होने वाली बंग भाषा कविताओं को देखकर कुछ लोग उसी तरह
चलने के लिए उतावले हो गये। इसके अतिरिक्त उस समय भारतीय
जनसमाज की मनोवृत्ति दासत्व की भावना से आक्रान्त थी और बौद्धिक
ह्रास की सी अवस्था उपस्थित थी। और बातों की तरह अंग्रेजी व योरो-
पीय साहित्य भी निर्विवादरूपेण अनुकरणीय माना जाता था। अतः
उसकी अन्धी नकल करने की क्षमता से बढ़कर मौलिक नूतनता का
और अच्छा प्रमाण क्या दिया जा सकता था ? इस प्रकार हमारे अनेक
कविजन बंगीय भाषा में प्रचलित नाम—छायावाद—को ही लेकर उसी
अनुकरण में कविताएँ करने लगे।

छायावादी काव्यधारा का समय १९१३ से १९३६ तक माना जाता
है। यह सम्पूर्ण गीतिकाव्य है। इसका प्रारम्भ ‘प्रसाद’ के ‘आँसू’ और

सुमित्रानन्दन पन्त की 'बीणा' से समझना चाहिये ।
 'छायावाद' शब्द का इस कविता का नाम छायावाद क्यों पड़ा, यह
 इतिहास भी विचारणीय है । विभिन्न विद्वान् भिन्न-
 भिन्न प्रकार से इसका उल्लेख करते हैं :—

- (i) आचार्य शुक्ल के मत से तुरीयावस्था में पहुँचे हुए साधको की आध्यात्मिक अनुभवों को प्रकट करने वाली वाणी के अनुकरण पर योरूप में जो कविता की जाती थी वह 'रहस्य-वाद' के अन्तर्गत समझी जाती थी । यह कविता उक्त रहस्य-मय ज्ञान का रूपकों में आभासमात्र दे पाती थी । अतः यह ज्ञान छाया (Phantasmata) कहाया ।

बंगदेशस्थ ब्रह्म-समाज में उक्त वाणी के अनुकरण में जो गीत बने वे 'छायावाद' कहाये । पीछे यह शब्द वहाँ के साहित्यिक क्षेत्र में होता हुआ अपने यहाँ हिन्दी में आया ।

- (ii) कुछ विद्वानों का कथन है कि गीताञ्जलि तथा अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों की कविताओं की नकल में बनने वाली हिन्दी कविताओं में उनकी छाया को देखकर किसी ने व्यंग्यरूप से इसे छायावाद कहा जो बाद को वास्तविक हो गया ।

- (iii) बाद के कुछ विद्वान् व्याख्याताओं ने उस कविता को छायावादी कहा जिसमें कवि प्रकृति में अपनी ही सप्राण छाया देखता हुआ चैतन्यारोपण कर भावाभिव्यंजन करता है ।

अस्तु ! उपर्युक्त बातों से इतना तो सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि प्रारम्भ में चलने वाले इन कवियों के सामने छायावाद का कोई स्पष्ट रूप न था । छायावाद नाम के छायावादी काव्यधारा अन्तर्गत अटपटी रहस्यात्मकता, अभिव्यंजन का विकासक्रम के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की

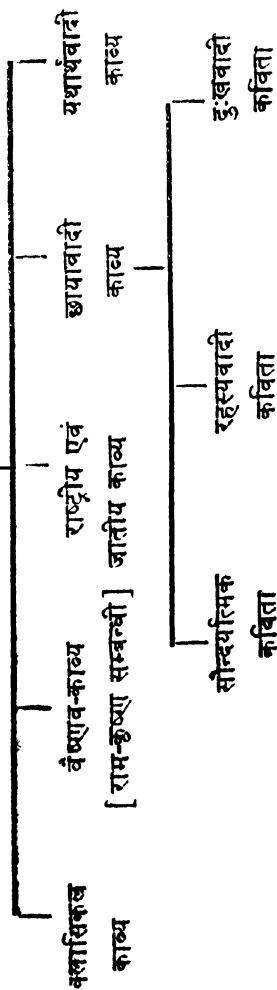
विश्रुतलता, मधुमयी कल्पना और चित्रमयी भाषा को ही समझा जाता था। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति चित्रमयी भाषा में अनेकविध वासनात्मक प्रेमोद्गार प्रकट करने मात्र को ही काव्य समझा जाने लगा। प्रारम्भ की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य कर आचार्य श्यामसुन्दरदाम ने लिखा—“यह मान लेना कि जो सुगमता से दूसरों की समझ में न आ सके अथवा जिसमें विभिन्न या विपरीत भावों के द्योतक शब्दों का साहचर्य स्थापित किया जाय ऐसी कविता प्रतिभा की एकमात्र द्योतक है, कहाँ तक अनुचित या असंभव है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।” बाद को ज्यों-ज्यों छायावादी कवि अपनी शैली और भावुकता में प्रौढ़ होते गये त्यों-त्यों इस धारा में रुचिरता आती गई और प्रसाद, पन्त, निराला के उन्कृष्ट काव्यों के दर्शन हुए; जिसके कारण यह हिन्दी-साहित्य में सक्षम काव्यधारा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इस धारा के विकासक्रम को निम्न प्रकार रखा जा सकता है:—

- (i) प्रारम्भिकावस्था—अधिकांश कविता अस्पष्ट और बंगीय एवं अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य की भड़ी नकल के रूप में होने लगी। जो कविता समझ में न आवे वही छायावादी समझी जाने लगी। जनता एवं समालोचकों में इस प्रकार की कविता की तीव्र आलोचना की गई।
- (ii) प्रौढ़ावस्था—सिद्ध और सच्चं कवियों की निरन्तर लगन के कारण इसके स्वरूप का परिचय जनता को होने लगा और इस शैली की नवीनता जाती रही।
- (iii) चरमोन्नति—अन्त में वह समय भी आया जब इस काव्य-प्रणाली का एकछत्र राज्य हो गया। ‘कामायनी’ जैसे महाकाव्य तथा ‘पथिक’ ‘ग्रन्थि’ ‘निशीथ’ और

‘राम की शक्ति पूजा’ जैसे कथाकाव्य और प्रभूत मात्रा में इतर मुक्तक-काव्य भी सामने आये ।

छायावाद का अंग्रेजी पर्याय कोई नहीं है । रहस्यवाद को अंग्रेजी में Mysticism कहते हैं । छायावाद आधुनिक काव्य (जो १९१३ के बाद की गीतात्मक कविता के रूप में सामने आधुनिक हिन्दी-कविता आता है) की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति और छायावाद है । इसकी अनेक अवान्तर प्रवृत्तियाँ भी हैं ; रहस्यवाद उनमें से एक है । आधुनिक हिन्दी-कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों को हम निम्न प्रकार रख सकते हैं:—

आधुनिक हिन्दी कविता



(i) सौन्दर्यात्मक कविताएँ (Aesthetic)

(ii) कबीर का रहस्यवाद जिसमें सूफी प्रेमभावना का भी पुट रहता है, ऐसी कविताएँ ।

(iii) प्रकृतिपरक रहस्यवाद की कविताएँ ।

(iv) प्रेमसम्बन्धी रहस्यवाद की कविताएँ ।

अब हमें देखना है कि आधुनिक काव्य के अन्तर्गत “छायावाद” से क्या तात्पर्य है ? यद्यपि अनेक विद्वान् छायावाद की एक विशिष्ट

भावपद्धति को मानकर उसे स्वतन्त्र काव्य-

छायावाद का स्वरूप धारा के रूप में ग्रहण करते हैं, तो भी आचार्य

और अर्थ शुक्ल उसे एक काव्य-शैली मात्र स्वीकार

करते हैं; और ‘रहस्यवाद’ उनके मत में

छायावाद का विषयगत पक्ष है। इस हिसाब से छायावादी शैली से

‘रहस्यवाद’ से बाहर के विषय भी आ जाते हैं। यहाँ पर हम इस गहन

विवाद में न पड़कर केवल ‘छायावाद’ शब्द से गृहीत होने वाले तथ्य का

विश्लेषण करते हैं। इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। प्रथमतः

वह काव्य वस्तु को प्रकट करता है और दूसरे में शैली को। इस प्रकार

इसके निम्न दो अर्थ हुए:—

(i) छायावाद [वस्तुपरक रहस्यवादी कविता]—वह कविता जिसमें कवि अज्ञात और असीम प्रियतम को आचम्बन मानकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की विविध प्रकार से व्यञ्जना करता है।

(ii) छायावाद [शैलीपरक प्रतीक पद्धति पर चलने वाली कविता]—वह काव्यशैली जिसमें प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यञ्जना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन होता है। अर्थात्—

[क] प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की छाया का कथन किया जाता है

[ख] परन्तु यह अप्रस्तुत की छाया ऐसी होती है जो प्रस्तुत की व्यञ्जना करने में समर्थ होती है।

यहाँ पर वस्तुपरक रहस्यवाद की छायावादी और प्रतीक पद्धति पर चलने वाली छायावादी कविताओं का क्रमशः उदाहरण दिया जाता है:—

(१) रहस्यवादः—

[क] मैं मतवाली इधर-उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है ।

× × ×

उतरो अब पलकों में पाहुन

× × ×

बोणा भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ ।

× × ×

पर तुमसे हूँ अपखण्ड सुहागिनी भी हूँ ।

× × ×

जाने किस जीवन की सुधि ले, लहराती आती मधु बयार ।

—महादेवी ।

[ख] रूपसि ! तेरा नर्तन सुन्दर
आलोक तिमिर सित-असित चीर ,
सागर गर्जन रुन्धुन मञ्जीर ।
उड़ता मृगभा में अलक जाल ,
मेघों में मुखरित किर्ण-स्वर ।
रवि शशि तेरे अवतंस लोल ,
सीमन्त जटित तारक अमोल ।
चपला विभ्रम स्मित इन्द्रधनुष ,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर ।
अन्धरि तेरा नर्तन सुन्दर !

—महादेवी ।

[ग] मौन रही हार—

प्रिय पथ पर चलती ,
सब कहते शृङ्गार ।
कण-कण कर कङ्कण, प्रिय ,

किण्-किण् रव किङ्किणी .
 रणन-रणन नूपुर, उर लाज,
 लौट रङ्किणी ;
 और मुखर पायल स्वर करें बार बार ;
 प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृङ्गार !
 शब्द सुना हो, तो अब
 लौट कहाँ जाऊँ ?
 उन चरणों को छोड़, और
 शरण कहाँ पाऊँ ?—
 बजे सजे उर के इस सुर के सब-तार ।
 प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृङ्गार ।

— निराशा ।

(२) छायावादः—

उठ-उठ लघु-लघु लोल लहर !
 करुणा की नव अँगड़ाईं सी
 मलयानिल की परछाईं सी
 इस सुने तट पर छिटक छहर
 शीतल कोमल चिर कम्पन सी
 दुर्ललित हठीले बचपन सी
 तू लौट कहाँ जाती है री—
 यह खेल खेल ले ठहर-ठहर !
 उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
 नर्तित पदचिह्न बना जाती,
 सिकता में रेखाएँ उभार—
 भर जाती अपनी तरल सिहर ।
 तू भूल न री पंकज वन में,
 जीवन के इस सनेपन में

ओ प्यार-पुलक से भरी ठुलक
आ चूम पुलिन के विरस अधर ।

पहले हम छायावाद की वस्तुपरक रहस्यवादी कविता अर्थात् रहस्यवाद को लेते हैं । मानव के मन में आत्मा-परमात्मा और जीवन-

मरण के प्रश्न अनादि काल से उठते रहे हैं ।

रहस्यवाद शब्द का यह उसकी स्वाभाविक जिज्ञासा के विषय है ।

आगमन तथा उसका प्रत्येक जाति, देश के साधकों ने इस दिशा में

मूलाधार प्रयत्न किया है; और उन्हें सफलता भी

मिली है । उन्होंने अन्तःसाधना द्वारा परम-

सत्ता का रहस्यपूर्ण अनुभव किया । सभी साधक इस विषय में एकमत

हैं कि वह अनुभव अत्यधिक गुह्य एवं अनिर्वचनीय है । अथच उसके

अलौकिक होने के कारण उसका रहस्यमय होना स्वाभाविक है । उसे

प्रकट नहीं किया जा सकता । सगुणोपासक सूरदास ने भी यही कहा है—

अविगत गति कछु कहत न आवै;

ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै ।

जिन साधकों ने (जैसे कबीर आदि ने) उसे प्रकट करना चाहा उनकी वाणी—वह वागात्मक चेष्टा—अटपटी एवं रहस्यपूर्ण हो गई ।

अतः वह रहस्यवादी नाम से अभिहित होने लगी । प्रारम्भ में यह नाम

धार्मिक क्षेत्र में ही चलता रहा । इसका अंग्रेजी पर्याय **Mysticism**

है । जो My धातु से बना है और जिसका अर्थ चुप रहना होता है ।

अतः अनिर्वचनीयता इसके जन्म के साथ ही से लगी हुई है । तब इसका

प्रयोग विचित्र रहस्यवादी कर्मकाण्डी विधियों के लिए ही होता था.

बाद को विशिष्ट साधकों से विज्ञात अनुभव, ज्ञान और साहित्य के लिए

व्यवहृत होने लगा । अंग्रेजों ने यहाँ आकर औपनिषदिक ज्ञान को अपने

साहित्य की परिपाटी पर रहस्यवादी कहा । हमारे साहित्य में यह शब्द

‘छायावाद’ के साथ अवतीर्ण हुआ । यद्यपि हमारे यहाँ परमसत्ता-सम्बन्धी

रहस्यानुभूति तथा तत्सम्बन्धी साहित्य की कमी नहीं है तो भी वर्तमान में यह शब्द और कविता अपने रूप में एक विशिष्ट परिभाषा को लिये हुए है। प्राचीन सिद्धों, नाथों और सन्तों की वाणी 'साम्प्रदायिक रहस्यवाद' में गिनी जायेगी, क्योंकि वह तत्तत् सम्प्रदायों की साधना पर आश्रित होकर उनकी विशिष्ट भावनाओं, मान्यताओं और परिभाषाओं को लिए हुये है। रहस्यवादी कविता, ज्ञान और कर्मकाण्ड सभी का मूलाधार परमसत्ता-सम्बन्धी रहस्यात्मक अनुभव है। यदि इस अनुभव की व्यञ्जना, लोकसामान्य सहजानुभूति के आधार पर (चाहे वहाँ उदात्त आध्यात्मिक अनुभूति न भी हो) वर्तमान छायावादी शैली से की जायेगी तो वह रहस्यवादी कविता के अन्तर्गत समझनी चाहिये।

इसके विपरीत महादेवी जी रहस्यवाद को छायावाद का विषमगत पक्ष न मानकर अनुभूति के उत्तर सोपान के रूप में स्वीकार करती है। अर्थात् छायावाद रहस्यवाद का परस्पर में अधरोत्तरसोपान सम्बन्ध है। उनकी यह भी मान्यता है कि रहस्यवादी काव्य की अविच्छिन्न धारा हमारे वाङ्मय में वेदों और उपनिषदों से लेकर चली आ रही है। उनके तत्सम्बन्धी शब्द निम्न प्रकार हैं:—

“आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उमने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की मृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण प्रबलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।”

कहा यह जाता है कि व्यक्तित्व की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। प्रथमावस्था में व्यक्ति स्वप्राण की साधना में रत होते हैं। द्वितीय में

समस्त जगत् में स्वप्राण को देखने वाले आते
छायावादी कवियों की हैं और तीसरी अवस्था में महाप्राण के
सहानुभूति का आधार विचार की अनुभूति को स्व और चराचर
में पाने वाले हैं। पिछली दो अवस्थाएँ
सर्वात्मवाद की दार्शनिक भूमि पर अवस्थित हैं और बुद्धि द्वारा सहज-
रूपेण ग्राह्य है; पर आध्यात्मिक साधना द्वारा तुरीयानवस्था वाले साधकों
के लिए अनुभूतिजन्य भी है। इसके अतिरिक्त सभी साधक यह भी मानते
हैं कि परमसत्ता का साक्षात् अनुभव बाह्य जगत् से ऐन्द्रिक वृत्तियों को
समेटने पर ही होता है। ऐसी साधना सिद्ध सन्तों में तो देखी जाती है,
छायावादी आधुनिक कवियों में नहीं। प्रतः यह मानना पड़ता है कि
आधुनिक कवियों की रहस्यात्मक प्रेरणा सर्वात्मवाद की आध्यात्मिक
अनुभूति से उद्भूत नहीं। वह अभिव्यक्ति का प्रकार है जिसका आधार
अवचेतन में स्थित कुण्डाग्रो को बताया गया है। यह तथ्य प्रारम्भिक
अवस्थाओं में और भी दृढ़ता के साथ लागू होता है। प्राचार्य शुक्ल ने
इस मिथ्या अनुभूति को कल्पित बताते हुए इसकी सच्चाई में सन्देह प्रकट
किया है और तीव्र समालोचना की है—‘काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह
है कि वस्तु-योजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा
अर्थात् स्वाभाविक वासनाजन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि
कल्पित होगा तो हृदय से उसका सम्बन्ध क्या रहेगा ? भावानुभूति
भी यदि ऐसी होगी जैसी नहीं उप्रा कर्णी तो सचाई (Sincerity)
कहाँ रहेगी ?”

शुक्ल जी की यह भी मान्यता है कि रहस्यवादी कविता का चलन
सर्वथा आधुनिक है। तथाकथित प्राचीन रहस्यवादी कविता रहस्यवाद
के वर्तमान लक्षण के अन्तर्गत नहीं आती।
प्राचीन तथा अर्वाचीन कबीर आदि की रहस्यवादी उक्तियों में
रहस्यवादी कविता जो तल्लीनता हम पाते हैं वह आधुनिक
में भेद कवियों की रहस्यमयी वाणी में नहीं। इसका

प्रधान कारण अस्पष्टता है। और यह अस्पष्टता इसलिए और भी स्वाभाविक है कि आधुनिक रहस्यवादी कवि के पास अनुभूति की गहराई नहीं; उसका प्रयास बौद्धिक है। जायसी और कबीर की कविता के पृष्ठ में अनुभूति है; उनका काव्य हृदय की रसधारा से सिक्त होने के कारण हमें आनन्दविभोर कर देता है। एक-दो उदाहरण लीजिये:—

नैहरवा हमको नहिं भावै

साईं की नगरी परम सुन्दर, जहाँ कोई जाइ न आवै ।

चाँद सुरुज पवन न पानी, को सन्देश पहुँचावै ।

दरद यह साईं को सुनावै —कबीर ॥

चकई री ! चलि चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियांग ।

निसिदिन राम-राम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग ।

—सूरदास ।

मैं गिरधर रंग राती, सैयाँ मैं ० ॥ टेक ॥

पचरंग चोला पहर सखी मैं, फिरमिट खेलन जातो ।

ओह फिरमिट माँ मिल्यो साँवरो, खोल मिली तन गाती ।

—मीरा ।

इस प्रकार इतना तो असन्दिग्धरूपेण स्पष्ट है ही कि आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी जो कविता हमारे यहाँ सदा से होती चली आई है उसमें और आधुनिक रहस्यवादी कविता में भारी अन्तर है। ऐसा होने पर रहस्यवादी कविता के दो भेद करने पड़ेंगे:—

(i) प्राचीन रहस्यवादी काव्य—

[क] सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित था ।

[ख] वासनात्मक प्रेमतत्त्व उसमें शामिल नहीं था ।

[ग] साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और मान्यताओं की पुट रहती थी ।

(ii) आधुनिक रहस्यवादी कविता:—

[क] विषय-वस्तु परमतत्त्व से सम्बन्धित होती है पर प्रेमतत्त्व की गहरी पुट भी होती है ।

[ख] वासना की भलक रहती है ।

[ग] कल्पनात्मक अनुभूति व मन की छलना पर आधारित है ।

[घ] पश्चिमी रहस्यवादी काव्य-परम्परा से प्रभावित रहती है ।

रहस्यवादी कविताओं का विभाजन भी किया जाता है । रहस्य-वादियों के मत में रहस्यानुभूति आत्मा की अन्तर्हित प्रवृत्ति है । इस प्रवृत्ति की तीव्रता के आधार पर जिज्ञासु या रहस्यवादी काव्य का कवि की मनःस्थिति बदलती रह सकती है । अवस्थाओं के आधार विविध विश्व की लीलामय गतिविधियों को देखकर कभी उसके मन में जिज्ञासा पैदा होती है । कभी-कभी उसकी आत्मा में उस मूलशक्ति से मिलने की अदम्य लालसा जागृत होती है और उसे अपने प्रियतम से एकाकार होने की सुखद अनुभूति होती है । इन्हीं बातों के आधार पर उक्त कविताओं का विषय-विभाजन निम्न प्रकार सम्भव है:—

१. परमसत्ता के सम्बन्ध में जिज्ञासामयी अवस्था का अभिव्यञ्जन करने वाले गीत:—

[क] सजनि कौन तम में परिचित सा
सुधि सा छाया सा आता ?
सूने में सस्मित चितवन में,
जीवन दीप जला जाता !—महादेवो ।

[ख] कनक से दिन मोती सी रात,
सुनहली सौंफ गुलाबी प्रात ।

मिटता रंगता बारम्बार,
कौन जग का वह चित्राधार ?—महादेवी ।

[ग] तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ।
सब द्वारों पर भीड़ खड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ॥
—मैथिलीशरण ।

[घ] केशव कहि न जाय का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र अति समुक्ति मन-हि-मन रहिये ।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ।
—मुलसीदाम ।

[ङ] वैसी बजी बीन ?
हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी ?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी
लीन सुर सलिल में मैं बन रही मोन ।—निराला ।

२. मिलन की आकांक्षा जागृत होने पर उस परमसत्ता से
मिलनाकांक्षा का व्यञ्जित करने वाले गीत—

[क] हाँ सखि आओ बाँह खाँल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
हो जायें द्रुत अन्तर्धान !

[ख] फिर विकल हैं प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी
देख लूँ उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पन्थ से युग
कल्प उसका द्यौर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्याम घेरे ?

- [ग] वे दिन कब आधैंगे माइ
जा कारनि हम देह धरी हैं मिलिबौ अङ्ग लगाइ ।
हौं जानूँ जू हिंलि-मिलि खेलूँ तन-मन प्राण लगाइ ॥
या कामना करो परिपूरन समरथ हो रामराइ ॥ —कबीर ।

३. विरह-वेदना अनुभव होने लगती है । इस विरहानुभूति की व्यञ्जना करनेवाले गीतः—

- [क] बालम आओ हमरे गेहरे ! तुम बिन दुखिया देह रे !
सब कोई कहे तुम्हारी नारी मोको यह सन्देह रे !
एकमेव हूँ सेज न सोवे तब लग कैसे नेह रे ॥
अन्न न भावे गीद न आवे गृह बन धरे न धीर रे ॥
—कबीर ।

- [ख] तुम बिन हां जाता जीवन का
सारा कान्य असार ।
उस बिन मेरा दुःख सूना
मुझ बिन वह सुषमा भीकी ॥ —महादेवी

- [ग] ये सद्य स्फुरति हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के ।
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महाभिलन के ॥ —प्रसाद ।

४. प्रियतम से मिलन की कल्पना कर ली जाती है । इस संयोग-
वस्था के सुख के अभिव्यञ्जक गीतः—

- [क] नयनन की करि कोठरी पतली पलंग बिछाय ।
पलकन की चिक डारि के पिय को लोन्ह बिछाय ॥ —कबीर
- [ख] मोविया बरसै रौरे दंशवा दिनराती
मुरली शब्द सुनि मन आनन्द भयो, जोति बरै दिनराती ।
—कबीर ।

- [ग] फैलते हैं सान्ध्य नभ में,
भात्र मेरे ही रँगिले

तिमिर की दीपावलि है

रोम मेरे पलक गीले —महादेवी ।

[घ] सियाराममय सब जग जानी । करौं प्रणाम जोरि जुग पानी ।
—तुलसी ।

रहस्यवादी काव्य की कुछ अपनी रूढ़ियाँ भी जड़ पकड़ गई हैं; वे हमें निम्न प्रकार मिलेंगी:—

- (i) वासनात्मक प्रणयोद्गार ।
- रहस्य वादी काव्य को (ii) वेदना विवृति ।
- रूढ़ियाँ (iii) सौन्दर्य सघटन ।
- (iv) मधुचर्यातिरेक ।
- (v) अतृप्तिव्यञ्जना ।
- (vi) अश्लाघा, विषाद और नैराश्य की भावना ।

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद को लक्षणों के अन्तर्गत बाँधने की चष्टा की है । उसका स्वरूप हृदयङ्गम करने के लिए ये लक्षण सहायक हैं । उन्हें हम यहाँ देते हैं :—

रहस्यवाद के लक्षण १. आचार्य श्यामसुन्दरदास—छायावाद और रहस्यवाद वस्तुतः एक दूसरे के पर्याय हैं और काव्य के विषय में सम्बन्ध रखते हैं, शैली या भाषा से नहीं । अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति जिसमें भाव प्रकट किए जाते हैं वही कविता रहस्यवाद की कही जा सकती है ।

२. व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति का अभिव्यञ्जन रहस्यवाद है ।

३. रहस्यवाद कविता की शैलीविशिष्ट है, जिसमें इस विविध चराचर के मूल में विद्यमान कारणभूत रहस्यमयी चेतनसत्ता पर अधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके प्रति अनुराग जनित आत्मसमर्पण की भावना का अभिव्यञ्जन किया जाता है ।

४. प्रो० नागेन्द्र—बहिरंग जीवन से सिमटकर जब कवि की चेतना ने अन्तरङ्ग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएँ जीवन और मरण सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा सम्बन्धी—काव्य में आ जाना सम्भव ही था, और वे आईं। उसके चिन्तनस्वरूप रहस्यवादी कविता उद्भूत हुई।

५. गंगाप्रसाद पाण्डेय—“सारांशतः रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है, जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक “महा अस्तित्व” के साथ एकात्मता का अनुभव करने लगता है।”

६. रामकुमार वर्मा—रहस्यवाद आत्मा की उम अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर नहीं रह जाता।

७. सुश्रीमहादेवी वर्मा—“जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इन काव्य का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।”

यहाँ तक हमने छायावाद के विषयगत अर्थ रहस्यवाद का परिचय कराया । अब उसके शैली सम्बन्धी अर्थ का विवेचन करते हैं । शैलीपरक या प्रतीक-पद्धति पर की गई छायावादी कविता की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं:—

[१] कला पक्षीय प्रवृत्तियाँ:—

(क) प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उमकी व्यञ्जना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान रहता है । अर्थात् अन्योक्ति-पद्धति का आश्रय ग्रहण किया जाता है । पन्त ने निम्न कविता में 'बीज' के प्रतीक द्वारा—'जीवित बन्धनों को सहन नहीं कर सकता; अतः ऐ मानव उठ !—इस तथ्य का व्यञ्जन किया है—

मिट्टी का गहरा अन्धकार,

दूबा है उसमें एक बीज,—

वह खो न गया, मिट्टी न बना,

कोदों सरसों से छुद्र चीज़ !

× × ×

बन्दी उसमें जोवन-अंकुर

जो तोड़ निखिल जग के बन्धन,—

पाने को है निज सत्त्व,—सुक्ति !

जड़ निद्र से जग कर, चेतन !—पन्त

(ख) वाचक पदों के स्थान पर लाक्षणिक पदों की प्रचुरता रहती है । ये लाक्षणिक पद अधिकतर आभ्यन्तर प्रभावसाम्य के आधार पर रखे जाते हैं । उदाहरणस्वरूप:—

(i) यौवनकाल के स्थान पर ऊषा ।

प्रिया " " " मूकुल ।

मानसिक क्षोभ " " " भ्रंभा ।

भाव-तरंग " " " भंकार ।

विषाद के स्थान पर छाया ।

भाव-प्रवाह ,, ,, संगीत, इत्यादि ।

(ii) उठ उठ री लघु-लघु लोल लहर !

करुणा की नव अंगड़ाई सी

मलयानिल की परछाईं सी

इस सूने तट पर छिटक छहर

×

×

×

×

तू भूल न री पंकज बन में

जीवन के इस सूनेपन में

ओ प्यार-पुलक से भरी छलक

आ चूम पुलिन के विरस अधर ।

इस छायावादी कविता में एकाकी जीवन की करुण-कसक की व्यंजना है । कवि मधुमय स्मृतियों की लहरों का आह्वान कर जीवन में सरसता का संचार करना चाहता है । इसमें लाक्षणिक प्रयोग निम्न प्रकार है:—

आनन्दमयी स्मृतिओं के स्थान पर “लहर” ।

एकाकी खिन्न जीवन ,, ,, “सूना तट” ।

अप्राप्त हास विलास और सम्पन्नता के स्थान पर “पंकज बन” ।

(ग) साम्य-भावना के ही आधार पर उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों का प्रयोग बहुलता से किया जाता है । यह साम्य-भावना रूप व आकार के आधार पर न होकर प्रभाव-साम्य के आधार पर रखी जाती है । आचार्य शुक्ल ने — “आभ्यन्तर भावसाम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावादी काव्य-शैली की असली विशेषता—” बताया है । इसके प्रचुर प्रयोग के कारण ही इस काव्य में दुरुहता बढ़ गई है ।

(घ) मूर्त के लिए अमूर्त उपमानों का प्रयोग भी विशेष रूप से

प्रचलित है। छायावाद की वायवीय-प्रवृत्ति का यह परिणाम है।
उदाहरण के लिए:—

(i) बिल्वरीं अलकें ज्यों तर्क जाल। —कामायनी।

(ii) मन्द पवन के झोंकों से
लहराते काले बाल,
कवियों के मानस की मृदुल,
कल्पना के-से जाल। —निराला।

(iii) थी अनन्त की गोद सृष्टि जो
विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय। —कामायनी।

(iv) वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सो,
वह दीपशिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सो,
वह दूटे तरु की छुड़ी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है। —निराला।

(ड) प्रभाव-ताम्य के आधार पर चित्रमय विशेषणों का भी प्रयोग किया जाता है। ऐसे चित्रमय विशेषण थोड़े में ही मार्मिक चित्र उपस्थित कर देते हैं:—

(i) तारे के लिए स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय।
निर्भर „ „ मूरु गिरिवर का मुखरित गान।
मारुत „ „ नभ की निःसीम हिलोर।
“बापू” „ अस्थिशेष ! मांसहीन !

(ii) एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब।
और जबता की जीवन-राशि,
सफलता का संक्षिप्त विलम्ब। —कामायनी

यहाँ पर मनु अपना परिचय प्रथम मिलन के अवसर पर श्रद्धा को दे रहे हैं।

(च) मानवीकरणप्रधान लाक्षणिक प्रयोगों के लिये भी छायावादी कवि का विशेष आग्रह रहता है:—

(i) धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी !

तारकमय नव वेणी-बन्धन

शीश-फूल कर शशि का नूतन,

रश्मि-वल्लय सित घन अवगुण्ठन,

मुक्ताहल अविराम बिछा दे चितवन से अपनी !

पुलकित आ वसन्त रजनी । —महादेवी ।

(ii) पवन पी रहा था शब्दों को

निर्जनता की उखड़ी सांस

×

×

×

×

ज्यों विराट् वाङ्मय ज्वालाएँ

खण्ड खण्ड हो रोती थीं । —कामायनी ।

[२] भावपक्षीय प्रवृत्तियाँ:—

(क) स्वानुभूतिनिरूपकता ।

(ख) सौन्दर्योपासना एवं श्रृंगारिकता

(ग) वायवीयपन (सूक्ष्मता की ओर अग्रसर रहता) ।

(घ) कल्पना की प्रधानता ।

यह बात कही गई है कि सन् १९१३ से छायावादी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। हमारे देश की तात्कालिक राजनैतिक, सामाजिक एवं मनो-वैज्ञानिक परिस्थितियों की छानबीन करने पर छायावाद की मूल प्रवृत्ति पता चलेगा कि संवेदनशील कवि को अन्तर्मुख और उसका कारण हो जाने के अतिरिक्त और कोई अन्य मार्ग शेष ही न था। नव-चैतन्य का स्पन्दन प्रारम्भ

हो चुका था, चारों ओर जागृति के लक्षण मुँह उठा रहे थे; यद्यपि उसकी स्पष्ट दिशा के विषय में सर्वथा धुँधलापन था। प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों की विजय ने भारतीय समाज के मन में अंग्रेजी सत्ता की अविचल स्थिति और अजेयता की छाप को दृढ़ता से बिठा दिया। अतः राजनैतिक क्षेत्र में उद्बुद्ध और कर्तृत्वाकांक्षी युवक-मण्डल को सामने आ सकने का अवकाश ही न था। इसके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र में भी सुधारक मनोवृत्ति की दृढ़ नैतिकता का एकच्छत्र सर्वसम्मत राज्य था। अतः यहाँ भी स्वच्छन्दता के लिए कोई प्रोत्साहन व गुंज'इश न थी। धीरे-धीरे युग के विकास के साथ असन्तोष और विद्रोह की स्वच्छन्द भावनाएँ नवचैतन्यत्व के वेश में परिस्थिति की जटिलताओं के कारण अन्तर्मुखी होकर अवचेतन में बद्धमूल होती रहीं, जहाँ कल्पनात्मक सूक्ष्म जाल का ताना-बाना फैलाती रहीं। ये ही भावनाएँ वासनात्मक कुण्ठाएँ कही गईं और छायावादी कहे जाने वाले चित्रों के रूप में प्रकट हुईं। इस प्रकार अन्तर्मुखता छायावादी विभिन्न गोचर प्रवृत्तियों की मूल प्रवृत्ति बन सकी। इसी एक प्रवृत्ति के प्रकाश में अन्य सभी उपर्युक्त प्रवृत्तियों की व्याख्या की जा सकती है। कवियों की रहस्यानुभूति का कारण भी यही प्रवृत्ति माननी पड़ती है क्योंकि अन्तर्मुखी चिन्तन का स्वाभाविक परिणाम अनादि एवं शाश्वत प्रश्नों—जीवन-मरण, आत्मा-परमात्मा और गुह्यत्वादि—की मीमांसा है। यद्यपि यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि छायावादी रहस्योक्तियाँ आध्यात्मिक साधनाजन्य न होकर भावना, चिन्तन और मानसिक छलना पर स्थित हैं। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि छायावाद रहस्यवाद दोनों की मूलप्रवृत्ति अन्तर्मुखता है; जिसके कारणों को तात्कालिक सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों में खोजा जा सकता है।

छायावाद के जो लक्षण विभिन्न विद्वानों ने किये हैं वे उसके स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले हैं; अतः उनका संग्रह यहाँ पर करना उचित है। इनके अध्ययन से छायावाद के **छायावाद के विभिन्न** प्रति अनेक दृष्टिकोणों का भी बोध हो **लक्षण** सकेगा।

१. प्रकृति में चेतना का अनुभव कर उसमें आत्मा की अनुभूति करना 'छायावाद' कहाता है।

२. चराचर से एकात्मभाव सम्बन्ध स्थापित होने की अवस्था में हमारे हृदय की जो रागिनी का स्वर है वह छायावाद है।

३. श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय—“विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात संप्राण छाया की भाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।”

४. श्री जैनेन्द्रकुमार—“छायावाद में अभाव को अनुभूति से अधिक कल्पना से भरा गया। वियोग उसके लिए मानों एक Cult (दृष्टि) ही हो गया। आँसू मानों छिपाने की चीज़ नहीं, दिखाने की वस्तु हो चला। व्यथा संग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने लगी। जो वेदना सँजोयी जाकर बल बनती, वह साज-सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छायामात्र रह गई।”

५. डा० नगेन्द्र—“आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व, युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्याभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई।”

६. सुश्रो महादेवो वर्मा—“छायावाद नेमनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती है।”

कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि छायावादी काव्य का मौलिक तत्त्व

प्रकृति पर चैतन्यारोपण है। उनकी दृष्टि से, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, “व्यक्तित्व की तीन अवस्थाएँ छायावाद के सम्बन्ध में होती हैं। स्वप्राण में रत साधारण कोटि के विभिन्न विद्वानों की ससारी जीव प्रथम प्रकार के हैं। जिन में मान्यताएँ संवेदनशीलता का आधिक्य है, वे प्रकृति को भी अपनी तरह सप्राण अनुभव करते हैं।

भावना की इस मनोरम भूमि पर अवतरित होकर जो राग गाया जाता है वही छायावाद है। तीसरी अवस्था चराचर और स्व को परम ब्रह्म की परम सत्ता में अधिष्ठित पाने की है। सिद्ध पुरुष इस अवस्था को साधना द्वारा प्राप्त करते हैं और तुरीयावस्था (ज्ञान दशा) में वे इसी में निमग्न रहते हैं। कवि इस अवस्था को संवेदनशीलता के कारण ग्रहण करता है। इस कवि की जो वाणी होगी वह रहस्यवादी कविता के रूप में कही जायेगी।”

उक्त मान्यता में प्रथम दोष तो यह है कि छायावादी काव्य को प्रकृति परक चैतन्यारोपण के आधार पर संकुचित कर दिया गया है। यह बात ठीक है कि छायावाद में सुन्दर-सुन्दर प्रकृतिचित्र प्रचुर मात्रा में हैं; पर छायावाद इतना ही है, सो नहीं। राष्ट्रीय गीत भी छायावाद में है। माखनलाल चतुर्वेदी ‘भारतीय आत्मा’ के गीतों को इस प्रसंग में देखा जा सकता है। प्रसाद जी का एक छायावादी गीत जो जीवन-संग्राम में कूदने के लिए प्रेरणा देता है; देखिये—

अब जागो जीवन के प्रभात !

रजनी की लाज समेटो तो

अरुणाम्बुल में चल रही बात

जागो अब जीवन के प्रभात । —प्रसाद ।

दूसरी बात यह कही जा सकती है कि छायावादी कवि का प्रकृति विषयक दृष्टिकोण सर्वात्मवादिता के आध्यात्मिक चिन्तन पर आश्रित

नहीं है। अतः उसके दृष्टिकोण को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न करना ठीक नहीं। ऐसा करना आत्मवचना होगी।

डा० नगेंद्र का मत इससे आगे है। वे विशेष युग की राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से अन्तर्मुख होने वाले कवियों की वाणी को छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य के अन्तर्गत मानते हैं। उनके कथनानुसार छायावाद और रहस्यवाद दोनों की मूल प्रवृत्ति अन्तर्मुखता है। इस विशेष प्रवृत्ति के कारण ही उसने एक विशिष्ट प्रकार की शैली को ग्रहण किया है। अतः वह केवल शैलीमात्र नहीं अपितु सच्ची काव्यधारा है, जो एक विशेष भावपद्धति पर अवस्थित है। सारांश यह कि छायावादी प्रवृत्ति का अपना एक आधार, एक दर्शन भी है, इसमें अनेकविध भावनाओं का मेल हुआ है; जिसके परिणामस्वरूप छायावादी कवि एक विशेष प्रकार के वातावरण को लेकर अपनी ही शैली में चलता है। सुश्री महादेवी जी ने भी इसी मान्यता को अपनी गम्भीर शैली में निम्न प्रकार पुष्ट किया है—
“छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का श्रुणी है जो मर्त्त और अमर्त्त विश्व को मिलाकर पूणता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित क रदी जो प्रकृतिवाद, हृदय-वाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।” अर्थात् देवी जी ने हमें बताया कि छायावादी काव्य-सृष्टि के मूल तत्त्व निम्न हैः—

i दार्शनिक ब्रह्मवाद।

ii बुद्धि द्वारा जीवन की अखण्डता का भावन।

iii हृदय द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य सत्तानुभूति।

iv स्वानुभूत सुख-दुःख ।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने आचार्य शुक्ल के मन्तव्य से विपरीत छायावाद को एक विशिष्ट काव्य-शैली मान न मानकर सुनिश्चित भावपद्धति वाली काव्यधारा स्वीकार किया है। अर्थात् उसकी अपनी एक भावभूमि है। परन्तु देखने में यह आ रहा है कि भूतपूर्व छायावादी कवि जो अब प्रगतिवाद के भी उन्नायक हो रहे हैं, प्रगतिवाद की कविताओं को भी छायावादी शैली की छाप से अंकित करते चले जा रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि छायावाद की उन्नत शैली छायावाद की प्रतिक्रिया में उठने वाली काव्यधारा के भावाभिव्यजन में भी प्रयुक्त की जा सकती है। वह केवल छायावादी वातावरणविशेष के चित्रांकन में ही समर्थ हो, सो नहीं। उसका इतर भावपद्धतियों में भी सफल प्रयोग देखने में आता है। अतः शुक्ल जी की मान्यता ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वस्तुतस्तु छायावादी भावपद्धति को मान्य ठहराकर उसकी विशिष्ट शैली की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है।

आचार्य शुक्ल छायावाद को नवीन युग में प्रवर्तित एक काव्य-शैली मानते हैं, जिसकी अपनी विशेषताएँ हैं। और यह काव्य-शैली द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत हुई थी। छायावादी शैली में परमसत्ता के प्रति जो उद्गार है वे रहस्यवादी काव्य के अन्तर्गत समझने चाहिये। शुक्ल जी का दृष्टिकोण वस्तुवादी था। वे काव्य को जगत् और जीवन से सम्बन्धित मानते थे। इस जगत्, जीवन में परमसत्ता की महत्ता का अनुभव कर जो कवि छायावादी शैली में प्रेमोद्गार की व्यंजना करता है वह सच्चा रहस्यवादी है। सिद्ध सन्तों की नकल पर अटपटी दारणी में मिथ्या अनुभूतियों की कल्पना के आधार पर काव्य-रचना करना मार्मिक नहीं; वाग्विलास भले ही हो।

शुक्ल जी इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि रहस्यवाद हमारे साहित्य में पहिले से चली आ रही एक धारा है। उनके मत में वेदों और उपनिषदों तक का रहस्यवाद साम्प्रदायिक या दार्शनिक है; जो उन उन विशिष्ट सम्प्रदायों के साधकों का है और अपनी धार्मिक साम्प्रदायिक परम्पराओं से सन्निविष्ट है। व्यापक मानवानुभूतियों पर आश्रित नहीं; अतः काव्य के अन्तर्गत नहीं। हमारे काव्य में परमसत्ता के प्रति लौकिक वासनामय विरह-मिलन के प्रेमगीत कब किसने गाये ?

विषय की दृष्टि से इन गीतों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है:—

[१] जीवन-भीमांसा सम्बन्धी गीत :—

(i) सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !

प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !

किसको त्यागूँ किसको माँगूँ

हैं एक मुझे मधुमय, विषयम; —महादेवी

(ii) तप रे मधुर मधुर मन !

विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,

जग-जोवन की ज्वाला में गल,

बन अकलुष, उज्ज्वल और कोमल

तप रे विधुर विधुर मन ! —पन्त ।

(iii) देख चुका जो जो आये थे, चले गये,

मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब भले गये,

सब भर की भाषा में

नव नव अभिलाषा में,

उगते पल्लव-से कोमल शाखा में,

आये थे जो निष्ठुर कर से

मले गये !

मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब

भले गये ! —निराला

[२] आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत :—

(i) वे स्मृति बनकर मानस में खटका करते हैं निशिदिन,
उनकी निष्ठुरता को जिससे मैं भूल न जाऊँ ।

—महादेवी ।

(ii) मौन रही हार,

प्रिय पथ पर चलती

सब कहते शृंगार !

कण-कण कर कङ्क, प्रिय

किण्-किण् रव की किङ्कणी,

रणन रणन नूपुर, उर लाज,

लौट रङ्गिणी,

और मुखर पायल स्वर करें बार-बार,

प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार !

—निराला

[३] प्रकृति सम्बन्धी गीत :—

(i) बीती विभावरी जागरी !

अम्बर पनघट में डुबी रही

तारा-घट ऊषा नागरी

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा

किसलय का अञ्चल डोल रहा

लो यह लतिका भर लाई

मधु-मुकुल नवल-रस गागरी ।—प्रसाद ।

(ii) दिग्मावसान का समय,

मेघमय आसमान से उतर रही है

बह सन्ध्या-सुन्दरी परी सी

धीरे धीरे धीरे !

तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास

मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—

किन्तु ज़ा गम्भीर— नहीं— नहीं है उनमें हास विलास ।

हँसता है तो केवल तारा एक —निराला

(iii) धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी !

तारक-मय नव वेणी-बन्धन

शीशफूल कर शशि का नूतन,

रश्मि वलय सित घन अङ्गुष्ठन,

मुक्ताहल अवराम बिछा दे चितवन से अपनी ।

पुलकती आ वसन्त रजनी ।

—महादेवी वर्मा

[४] लौकिक प्रेमगीत :—

(i) कल्पना के कानन की रानी !

आओ, आओ मृदु-मृदु; मेरे

मानस की कुसुमत वाणी ।

सिहर उठें पल्लव के दल; नव अंग,

बहे सुप्त परिमल की मृदुल तरंग;

—निराला ।

(ii) प्रिये, प्राणों की प्राण !

न जाने किस गृह में प्रनजान

छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !

नवल कालकाश्रों की-सी वाण,

बाल-रति सा अनुपम, असमान —

न जने कौन, कहाँ अनजान,

प्रिये प्राणों की प्राण !

—पन्त ।

छायावाद की कृपा से हमारे काव्य में भाव, भाषा, छन्द और शैली में भारी परिष्कार हुआ है। हमारी काव्य-धारा स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभिमुख हो बही। इसी काव्य ने हमारे काव्य छायावाद का कर्तृत्व को संकुचित साम्प्रदायिक भावभूमियों से ऊपर लाकर ऋति, विश्व और मानवता के सुविस्तृत प्राङ्गण में ला खड़ा किया। उसका कर्तृत्व निम्न प्रकार है :—

- (i) छायावाद ने मलिन वासनात्मक सौन्दर्य को हटाकर शुद्ध सुरुचि-सम्पन्न सूक्ष्म व व्यापक सौन्दर्य का उद्घाटन किया।
- (ii) छायावाद ने बुद्धिवाद के स्थान पर सुकोमल भावुकता को प्रश्रय दिया।
- (iii) भाषा की अभिव्यञ्जन-शक्ति को परिष्कृत और उच्च बनाया।
- (iv) भाषा की रुक्षता को दूरकर कोमलकान्त पदावली से संयुक्त किया।

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर यह बात स्पष्ट है कि छायावाद एक उत्कृष्ट काव्यमय शैली है, जिसने अपनी विशेषताओं के कारण हमारे साहित्य में युगान्तर पैदा किया। इसने अपनी

उपसंहार और आक्षेप मोहकता से हमारे काव्य का सर्वांग कायाकल्प कर डाला। यह इतनी तीव्रता एवं भव्यता से सामने आया, विकसित हुआ और पूर्णता को पहुँचा कि सामाजिक समूह चमत्कृत रह गया। प्रारम्भिक अस्पष्टता के बाद सच्चे कवियों की लगन के कारण वह समय भी आया जब विरोधी आलांचक भी इस शैली के पथिक बने। एक बार इसकी दिगन्तव्यापी सुवास से काव्योपवन महक उठा। परन्तु समय के प्रवाह से रूढ़ियाँ पैदा हुईं, समालोचना होने लगी और प्रतिक्रिया का वेग बढ़ा। लोग पूछने लगे कि छायावाद ने हमें और हमारे साहित्य को क्या दिया? जिन कवियों ने सोत्साह छायावाद का उन्नयन किया था, उन्होंने ही, हवा का रख पहिचानकर क्रमशः

‘प्रगतिवादी’ दिशा का पथ पकड़ा, और आज छायावादी युग समाप्त भी हो गया; तथा प्रगतिवाद का उद्घोष ऊँचा हो सुनाई दे रहा है। आलोचक-वर्ग ने छायावाद में निम्न दोष निकाले।

- (i) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है।
 - (ii) पलायनवादी प्रवृत्ति का पोषक है।
 - (iii) भावों में विश्रृंखलता व अप्रासादात्मकता रहती है। शैली नवीन होने पर भी रूढ़िग्रस्त है।
 - (iv) यथार्थ से दूर और वास्तविक जीवन से विमुख है।
 - (v) और छायावाद भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओं से अनुप्राणित नहीं।
-

पगतिवाद

काव्य और लोक-जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट है। इसलिए यह कहना उचित ही होता है कि काव्य लोक की वस्तु है। लोक में प्रवर्तित और विद्यमान चिन्ता, आकांक्षाओं काव्य प्रातिबिम्बिक सत्ता और मनीवृत्तियों का ही प्रतिबिम्ब काव्य में है। उसमें लौकिक अव- रहता है। और क्योंकि काव्य का कर्त्ता कवि स्थाओं और लोकभाव- स्वयं संवेदनशील प्राणी होता है, अतः लोक- नाओं का चित्र रहता है। भावनाओं की सह अनुभूति से कवि के मानस पर जो भावोन्मेष होता है उन्हीं का चित्रण काव्य में अंकित रहता है। लोकगत भावनाएँ कवि के हृदयरूपी ताल-फलक के माध्यम में से संचरित होकर ऐसे मनोज्ञ छाया-चित्रों के रूप में पाठक के सामने आती हैं, जिन्हें वह मुग्धभाव से ग्रहण करता है।

इसी के साथ-साथ ऐतिहासिक और समाज-शास्त्रीय आलोचना हमें यह भी बताती है कि लोक की भावधाराएँ और चिन्तासंरणियाँ आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों से पूर्णतया परिचालित रहती हैं। उक्त परिस्थितियों के बदलते रहने से समाज के मानस-लोक का भी परिवर्तन, परिष्करण होता रहता है। कविवर पन्त की निम्न पंक्तियाँ इसी तथ्य का प्रकटीकरण करती हैं—

वस्तु विभव पर ही जन-गण का भाव-विभव अवलम्बित !

× × × × × ×

मानव-गुण, भव रूप नाम हाँते परिवर्तित युगपत् !

अर्थात् भौतिक बाह्य साधनों के परिवर्तन से मानव का आचार व्यवहार ही नहीं अपितु दर्शन, चिन्तन और भावन का स्वरूप भी बदल

जाता है । उपर्युक्त तथ्य को इस प्रकार भी प्रकट किया जा सकता है:—

किसी कालविशेष की आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक, और धार्मिक परिस्थितियों से	उस काल की लोक-भावनाओं और मनोवृत्तियों का स्वरूप निश्चित होता है ।	यही स्वरूप काव्य में कविहृदय के माध्यम से संचरित हो आकर्षक रूप में प्रतिबिम्बित होता है ।
---	---	---

इस कारण जब हम कहते हैं कि काव्य किसी कालविशेष के चिन्तन तथा मान्यताओं का प्रतीक है तब उसका यह भी आशय होता है कि उक्त काव्य अपने समय की सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक आदि सभी परिस्थितियों का दिग्दर्शक होता है । इस अर्थ में तो शुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ भी वर्ण्य-काल-विशेष का समग्र चित्र उपस्थित करने में असमर्थ रहते हैं ।

अस्तु ! इसी सिद्धान्त के अनुसार द्विवेदीकालीन काव्य में उग्र नैतिकता का नियन्त्रण और छायावादी काव्य में हर प्रकार की रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना दिखाई देती है । उपर्युक्त तथ्य के आधार पर हिन्दी के द्विवेदी समझी जा सकती हैं । युग-विशेष में किसी कालीन तथा छायावादी-काव्य-प्रवृत्तियों की दिशा-ओं का कारण खोजा जा सकता है ।

हमारे समाज में पौराणिकता का ही आधिपत्य था और छायावादी काव्य के कवि युग के लोक-परक मानववाद एवं रवीन्द्र से प्रभावित होकर नवीन मनोवृत्ति के थे । अतः यह काव्य केवल सौन्दर्य और प्रेम

का काव्य बनकर रह गया। प्रथम महासमर के पश्चात् हमारे देश में पश्चिम के स्वच्छन्द विचार पनप उठे थे। उनके प्रभाव से राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक बन्धनों के प्रति विद्रोहाग्नि अन्दर-ही-अन्दर सुलगने लगी थी, पर उसे फैलने-फूटने के लिए आवश्यक अवकाश न था। अतः युग-चेतना से प्रबुद्ध कविगण अन्तर्मुख होकर वैयक्तिक पक्षों की विवृति में ही एकान्त तत्पर हो गये। अपनी भौतिक परिस्थितियों से प्रेरित यही छायावादी काव्य रहा। गाँधी जी की राष्ट्रीय भावना के आलोक में इसकी श्रृंगार-मूलक नम्रता ढकने के लिए समसामयिक आलोचकों ने उसे रहस्यवाद के आभौमय अवरण से सुसज्जित कर दिया।

ऋषि दयानन्द और लोकमान्य तिलक द्वारा स्वातन्त्र्य आकांक्षा के सम्यक्तया उद्बुद्ध किये जाने पर महात्मा गान्धी ने भारतीय राजनैतिक आकाश में उदित होकर राजनैतिक एवं छायावादी काव्य के सामाजिक सभी दिशाओं को एक साथ अनुवर्ती प्रगतिवाद आलोकित कर दिया। उनके द्वारा आविष्कृत की पृष्ठभूमि सत्याग्रह के अनोखे अस्त्र ने किकर्तव्यविमूढ़ भारतीय चेतना को स्वातन्त्र्य का राजपथ दिखा दिया।

यह समय हमारे देशमें नव-जागरण का था। दीर्घकाल तक गान्धीवाद का सर्वमान्य एकच्छत्र राज्य रहा। गान्धीवादी दर्शन की दृष्टि से जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आध्मात्मिक गान्धीवाद की व्यापकता उन्नति द्वारा भगवत्प्राप्ति है। मानव-प्रेम और अहिंसा इसके बाह्य भौतिक साधन हैं। लोक-सेवा द्वारा जन-जागृति एवं संगठन कर अहिंसक सत्याग्रह से शोषकों का हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है, जिसके कारण समाज के दुःख-दैन्य का विनाश सम्भव है।

यह गान्धीवादी विचारधारा हमारे पिछड़े पददलित और परवश समाज के संगठन के लिए दो कारणों से ग्राह्य हो सकी। एक तो उसे विदेशी शासन से छुटकारा पाने का अन्य समाजवादो विचारधारा कोई क्रियात्मक उपाय न सूझ रहा था।

का श्रीगणेश दूसरे यह भारतीय दार्शनिक परम्परा और आदर्शों के अधिक अनुकूल थी। परन्तु नित्य नवीन वैज्ञानिक साधनों और संसारव्यापी औद्योगिक क्रान्तियों के कारण जीवनोपाय की साधनभूत संसार की अर्थ-व्यवस्था में आमूलाग्र उथल-पुथल होने लगी थी। फलतः नवीन-नवीन सामाजिक व्यवस्थाओं का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न तर्क-प्रतिष्ठित शक्तिशाली वाद उठे, जिनसे प्रभावित संसार के सुदूर क्षेत्रों में उठने वाली विचार-तरङ्गें भारतीय सीमातट से भी टकराने लगी। इनमें मार्क्स-प्रतिपादित 'वैज्ञानिक समाजवाद' सर्वाधिक सामयिक और व्यापक सिद्ध हुआ। रूस में मार्क्सवादी शासन-व्यवस्था स्थापित होने पर संसार में इसका प्रभाव आवश्यक रूप से पड़ा। भारत में भी यह लहर आई। १९२७ में यहाँ कम्युनिस्ट-दल (समष्टिवादी दल) की स्थापना हुई। तदनन्तर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भी एक अवान्तर समाजवादी दल (सोशलिस्ट दल) कायम हुआ। संसार के रंगमञ्च पर मार्क्सवादी विचारधारा इतनी सशक्त सिद्ध हुई कि विरोधी संगठनों तक को इसकी सुनिश्चित सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। राजनैतिक क्षेत्रों के बाहर धार्मिक क्षेत्रों पर भी इस विचारधारा का सुनिश्चित प्रभाव पड़ता रहा। तब साहित्य ही इससे अछूता क्योंकर रह सकता था ? और तब, जब कि मार्क्सवाद साहित्य और कला को शोषित-पीड़ित सर्वहारा वर्ग के पक्ष के समर्थन द्वारा उनके जीवनोत्थान का साधन मानता हो। १९३५ में एक अन्तःराष्ट्रीय संस्था, जिसका नाम 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' रखा गया, की स्थापना हुई और इसका प्रथम

अधिवेशन पैरिस में सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ई० एम० फोस्टर के सभापतित्व में हुआ। इससे अगले ही वर्ष 'भारतीय प्रगतिशील-लेखक संघ' की भी स्थापना हुई, जिसके प्रथम सभापति का आसन हिन्दी के वरद-पुत्र श्री प्रेमचन्द्र ने सुशोभित किया। इस प्रकार हमारे समाज में गान्धीवादी विचारधारा के साथ-साथ एक नवीन मार्क्सवादी विचारात्मक क्रान्ति का सूत्रपात भी होने लगा जिसके परिणाम-स्वरूप यहाँ एक विशिष्ट वर्ग में नवीन सर्वतोमुखी व्यवस्थाओं को मूर्त रूप देने की उत्कट लालसा जागृत हुई और साहित्य को इस विचारधारा के प्रसारार्थ एक साधन के रूप में व्यवहृत किया जाने लगा। समाजवादी दृष्टि से साहित्य सिद्धान्ततः एक साधन है, जिसे तथाकथित प्रगति का पोषण करना चाहिये। साहित्य के प्रति इस दृष्टिकोण को प्रगतिवाद कहते हैं।

समाजवाद के अनुसार साहित्य एक सामाजिक चेतना है, और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एक रोगग्रस्त मनोवृत्ति। इस प्रकार क मनोभावनाओं के प्रकाश में छायावादी काव्य समाजवादी विचारधारा के प्रसूत होने पर केवल अहंभाव-प्रेरित फेनिल उद्गारमात्र रा जाता है। इन आत्मोद्गारों के भीमकाय ढेरं से समाज का क्या लाभ और क्या प्रयोजन अहंवादी दम्भ वृत्ति सिद्ध हो सकता है ? प्रगतिवादी आलोचन नग्न रूप में सामने साम्राह्य यह पूछने लगे कि छायावाद ने हं क्या दिया ? वह स्पष्टतया लोक-जीवन र विच्छिन्न हो समय से पीछे पड़ गया।

छायावादी काव्य की इस असफलता को छायावाद काव्य के प्रमुख पुरस्कर्ता पन्त ने इन शब्दों में स्वीकार किया—“किन्तु वह नये युग क सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका। उस व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था पर महायुद्ध के बाद की 'अन्न-वस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहं

आई थी। उसके 'हास-अश्रु आयासकांवा' 'खाद्यमधुपानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेक्नीक आवरणमात्र रह गया।"

फलतः यह कहा जा सकता है कि समय की आवश्यकता के रूप में प्रगतिवाद का उदय हुआ। यह संघर्षशील भौतिक साधनापेक्षी युगवर्म के अनुसार शत-प्रति-शत जीवनस्पर्शी होकर अतः प्रगतिवाद साहित्य सामने आया। इसी में इसका छायावाद से में समय की पुकार प्रतिकृतित्व है। प्रगतिवाद ने कला की होकर उद्भूत हुआ एकमात्र कसौटी लोक-मंगल-विधान स्थिर कर दिया। और सोद्घोष आदेश प्रचारित किया कि कवि को अपनी कला स्वान्तःसुखाय न रख मानव-वाद से अनुप्राणित लोक-कल्याण के उदात्त उद्देश्य के लिए अर्पित करनी चाहिये। संक्षेपतः मार्क्सवादी विचारधारा का साहित्यिक रूप 'प्रगतिवाद' समझा जा सकता है।

मार्क्सवादी विचारधारा को समझने के लिए उसका मूल दर्शन देखना आवश्यक है। इस दर्शन को "द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद" नाम दिया जाता है, जो कि एक विशेष अर्थको लिये हुए है।

भौतिकवाद की दृष्टि में इस जगत् का मूलाधार पञ्चभूतात्मक प्रकृति है; इसे ही मैटर या पदार्थ कह लीजिये। जगत् के नाना नाम-रूप इस प्रकृति के ही विकारमात्र हैं।

भौतिकवाद और उनमें चैतन्य की सत्ता किसी पृथक् आत्मा के अस्तित्व के कारण नहीं। आत्मा की पृथक् सत्ता भौतिकवाद में स्वीकार्य नहीं, और जीवन का विकास भी प्रकृति के सूक्ष्मतर परिणाम के रूप में प्रयोगसिद्ध विज्ञान से प्रमाणित है। शरीर की परिवालिका शक्ति के रूप में मस्तिष्क को

माना जाता है। परन्तु इसका स्वरूप अधिक विकसित अन्तरिन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ नहीं। बाह्य जगत् की इन्द्रियों पर जो संवेदनरूप प्रतिक्रिया होती है मस्तिष्क उसका संकलन एवं समन्वय करता है। मस्तिष्क को पदार्थ का ही सूक्ष्मरूप से अधिक विकसित 'परिणाम' मान लेने में वर्तमान विज्ञान हमारी पूरी सहायता सकता है। सारांश यह कि चेतन और अवचेतन सभी रूप उस एक 'प्रकृति' के ही विकारमात्र हैं।

विचार करने पर ज्ञात होता है कि कथित "भौतिकवाद" अद्वैतवाद की आध्यात्मिक विचारधारा की ठीक विपरीत प्रतिकृति है। दोनों वाद आमने-सामने के सिरों पर प्रतिद्वन्द्वी होकर स्थित हैं। अद्वैत सिद्धान्त अव्यक्त ब्रह्म को एकमात्र अद्वितीय सत्ता स्वीकार करता है और जगत् को मायारूप से उसका परिणाम मानता है। इसके विपरीत भौतिकवाद में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक जैसी शक्तियों को कोई स्थान नहीं। चैतन्य का विकास भौतिक पदार्थ से ही सम्भव माना जाता है। अस्तु !

यहाँ पर अब यह प्रश्न उठता है कि प्रकृति में गतिशीलता या विकास की व्याख्या किस प्रकार सम्भव है ? इसके उत्तर में मार्क्स प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में द्विविध सृष्टि में प्रगति एवं विकास विरोधी तत्त्वों के निरन्तर संघर्ष की कल्पना का क्रम कैसे संभव है करते हैं। इस आन्तरिक संघर्ष की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जागतिक स्वस्थरूप का उदय तथा अस्वस्थ का क्षय होकर सृष्टि की विकासशीलता सिद्ध होती है। अर्थापत्ति के द्वारा उक्त कथन का यह आशय होता है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के लिए किसी भी व्यतिरिक्त परमसत्ता की कोई आवश्यकता नहीं। उसकी व्याख्या प्रकृति में द्वन्द्वात्मक तत्त्वों के स्वीकार करने से ही सम्भव है।

जगत की गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता की आन्तरिक प्रक्रिया का क्रम बड़ा मनोरञ्जक है। किसी भी प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) में आन्तरिक असंगतियाँ (इनर कण्ट्राडिक्शन्स) स्वतः ही प्रादुर्भूत होती हैं। उनके बढ़ जाने पर पूर्व अवस्थान छिन्न-भिन्न हो जाता है, और नवीन प्रत्यवस्थान (एण्टीथीसिस) की प्रतिष्ठा होती है। पूर्व क्रम से नवीन प्रत्यवस्थान में भी असंगतियाँ पैदा होती हैं और बढ़कर वे उसी के ध्वंस का कारण होती हैं; तत्पश्चात् एक समवस्थान (सिन्थेसिस) की संस्थापना होती है। कुछ समय तक समवस्थान में द्वन्द्वात्मक विरोधी तत्त्वों की साम्यावस्था रहने के बाद पुनः संक्षोभ होने लगता है, जिसका अन्तिम परिणाम एक नये अवस्थान के रूप में सामने आता है। इस प्रकार जगत् में विद्यमान विरोधी तत्त्वों के द्वन्द्व (संघर्ष) और उसके परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तन का क्रम निरन्तर जारी रहता है। उक्त विरोधी तत्त्वों के संघर्ष की चरम उत्कटावस्था के आने पर पदार्थ में मात्रा (क्वाण्टिटी) और गुण (क्वालिटी) का जब सवेग परिवर्तन होता है तो क्रान्ति की दशा उपस्थित होती है।

उपर्युक्त “द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी” विवेचन के प्रकाश में जगत् का एकमात्र असन्दिग्ध सत्य ‘भौतिक जीवन’ ठहरता है। ‘परलोक’ या ‘मोक्ष’ जैसी वस्तु की कल्पना निराधार है। भौतिक भौतिकवादी दर्शन से जीवन का स्वस्थ उपभोग ही परम पुरुषार्थ निःसृत मान्यताएँ हैं। परलोक की निराधार पापपुण्यमूलक कल्पनाओं में उलझे रहना जीवन के प्रत्यक्ष पदार्थ से विमुख होना है—इसे पलायन कह सकते हैं। जीवनोपाय का प्रमुख साधन ‘अर्थ’ है, और यह समाज के संगठन का केन्द्र-बिन्दु है। समीचीन आर्थिक व्यवस्था के होने पर वैषम्यरूप दःख का कारण

निमूल हो सकता है। इस वैज्ञानिक समाजवादी दृष्टि का लक्ष्य समाज में यही साम्य स्थापित करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति अर्थचक्र की घुरी-रूप उत्पादन के साधनों को सामाजिक नियन्त्रण में लाने से सम्भव है। इस समय संसार में पूँजीवादी अवस्थान अपने समस्त परिजनों—सामन्तवाद, साम्राज्यवाद और पाशववाद (Fascism) के साथ मरणासन्न अवस्था में विद्यमान है। साहित्य और कला की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह वर्ग-संघर्ष को उद्बुद्ध कर अवश्यम्भावी प्रगति में योग देवे।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजवाद कला और साहित्य को प्रचार का एक साधनामात्र मानता है। यहाँ तक पहुँचने के लिए वह निम्न तर्क-सरणि को अपनाता है।

समाजवाद का कला के प्रति दृष्टिकोण १. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त समाजशास्त्र के नियमों की कसौटी पर परखे जाने पर खरे उतरते हैं,

जिससे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या सम्भव होती है।

२. इस कारण मार्क्सवादियों की मान्यता में मनुष्य ही अपने इतिहास का निर्माता है, परन्तु उसकी प्रेरिका उत्पादन की भौतिक परिस्थितियाँ हैं, जिसके प्रभाव से मानव के अन्तर्जगत् का निर्माण होता है।

३. 'निरन्तर प्रगति' ही जीवन है। सामाजिक और राजनैतिक प्रगतियों का क्रमशः विकास होता रहता है, क्रान्तियों के विकास की धारा में तीव्रता आती है। इन प्रगतियों का मूल विचारों की क्रान्ति में खोजा जा सकता है। साहित्य ही विचारों की क्रान्तियों का वाहक होता है। रूढ़ि का आश्रय पकड़कर जो साहित्य सामने आता है वह निर्जीव होने से क्रान्ति और प्रगति का पोषक नहीं हो सकता। साहित्य में

सजीवता जन-सम्पर्क से आती है। अतः साहित्य को जन-सम्पर्क से परिपुष्ट होना चाहिये।

४. भौतिकवादी दर्शन के अनुसार संघर्ष की प्रक्रिया में ह्लासोन्मुख और विकासोमुख द्विविध तत्त्व रहते हैं। कलाकार के मन की प्रगतिशीलता इसी में है कि वह पहिचानकर विकासोन्मुख शक्तियों का पोषण और ह्लासोन्मुख का निरसन करे। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि साहित्य एक सामाजिक चेतना है, इस कारण उसका क्षेत्र आवश्यक रूप से सामाजिक हित-सम्पादन में ही परिसीमित है।
५. वर्गात्मक समाज में साहित्य को पूँजीपतियों और सामन्तों के विलास के लिए व्यभिचार और श्रृङ्गार के नग्न-चित्र उपस्थित करने के लिए बाधित होना पड़ता है। अथवा जीवन-संघर्ष से विरत व्यक्तियों की पलायनवादी प्रवृत्ति के विलास की तुष्टि के निमित्त कल्पनालोक के सुनहरी लता-कुञ्जों में आश्रय ढूँढना पड़ता है। इस कारण कला और साहित्य के समन्वित विकास के लिए वर्ग-विहीन समाज आवश्यक है; ताकि संस्कृति का स्वस्थ विकास सम्भव हो सके।
६. अतः साहित्य का उद्देश्य काल्पनिक लोक का निर्माण कर मुलभ-विलास को प्रस्तुत करना नहीं अपितु त्रस्त-मानवता की उस शक्ति से सम्पर्क स्थापित करना है जो नव-निर्माण के लिए सतत प्रगतिशील संघर्ष में संलग्न है।

इतने विवेचन के अनन्तर अब हम 'प्रगतिवाद' को लक्षण के शब्दों में बाँध सकते हैं—“प्रगतिवाद से साहित्य की उस धारा का ग्रहण होता है जो मार्क्स-प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद का लक्षण भौतिकवाद के दर्शन के आधार पर सृष्टि की गतिशीलता के द्विविध विरोधी और सहयोगी

उपादानों में से सहयोगी तत्त्वों को पहिचानकर उसके प्रचार, प्रसार और पोषण में कला की सार्थकता स्वीकार कर चलती है ।” डा० रामविलास शर्मा ने यों कहा—“प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है ।” और डा० नगेन्द्र ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया—“प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना । जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो वही प्रगतिशील साहित्य है । × × × ×—प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है, परन्तु एक विशेष ढंग से, एक विशेष दिशा में । उसकी एक विशिष्ट परिभाषा है । इस परिभाषा का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ।”

प्रगतिवादी साहित्य और आलोचनाओं को समझने के लिये उनकी साहित्य-सम्बन्धी निम्न चार धारणाओं पर ध्यान देना आवश्यक है—इन धारणाओं का आधार उनका प्रगतिवाद की साहित्य उपरिलिखित दर्शन ही है, यह कहने की सम्बन्धी धारणाएँ आवश्यकता नहीं :—

१. जिस साहित्य में मार्मिकता अर्थात् कला-सौष्ठव के साथ-साथ समाज-हितैषिता भी हो वह प्रगतिवादी साहित्य है । और इसी- लिए वह श्रेष्ठ साहित्य भी है । प्रगतिमूलक तत्त्वों से समन्वित उक्तियाँ मार्मिकता के बिना साहित्य के अन्तर्गत नहीं ; उनके सम्बन्ध में श्रेष्ठ साहित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता । इसी कारण प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

और जो वाणी मार्मिक होने पर भी प्रगति-तत्त्व की पोषिका नहीं वह श्रेष्ठ साहित्य नहीं । अतः मार्मिक होने मात्र से कोई साहित्य श्रेष्ठ साहित्य होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते ।

२. साहित्य एक सामाजिक चेतना है । दूसरे शब्दों में साहित्य का

प्रभाव समाज पर आवश्यक रूप से पड़ता है । इस कारण साहित्य को समाज के हित के लिए सचेत होकर प्रयुक्त किया जाना वाञ्छनीय है ।

३. सामाजिक एवं राजनैतिक क्रान्तियों के लिये प्रथम विचारों की क्रान्ति आवश्यक होती है । विचारों में क्रान्ति लाने का प्रमुख साधन साहित्य ही है ।
४. दूसरों की तरह साहित्यिक पर भी सामाजिक उत्तरदायित्व होता है । उसे इसे निभाने के लिए अपनी कला का प्रयोग समाजहित को ध्यान में रखकर करना चाहिये । यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह समझना चाहिये कि वह अपने उत्तरदायित्व से विमुख होता है ।

अभी तक जो परिचय कराया गया है उससे यह बात सम्यक्तया स्पष्ट हो जानी चाहिये कि काव्यगत प्रगतिवाद की धारा साहित्य में मार्क्सवाद की सन्तति है । वह साहित्य में एक वादग्रस्त प्रगतिवाद वादग्रस्त राजनैतिक विचारधारा को लेकर और सच्चा शाश्वत आगे बढ़ती है । उसका अपना एक सुनिश्चित प्रगतिवाद घेरा है, जिसके बाहर वह नहीं जाना चाहती ।

इस कारण हमारे अनेक मनीषी आचार्य, जो साहित्य को किसी भी वाद के बाड़े में बन्द देखना नहीं चाहते, इसे सच्चे प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं गिनते । उनकी व्याख्या के अनुसार कोई भी कलाकार जो मानव-कल्याण की प्रवृत्ति के कारण लोक-मंगल की भावना का पुरस्कार करने में यतमान है, प्रगतिवादी हो सकता है । जिन महाकवियों की समर्थ वाणी ने मनुष्य-जीवन को गति प्रदान की है, वे सभी प्रगतिवादी हैं । मार्क्सवाद के अनुयायी न होने मात्र से ही उनके साहित्य की लोक-मांगलिकता का गौरव कम नहीं किया जा सकता । लोक-संग्रह की जिस अत्युच्च व्यापक भूमिका पर अवस्थित हो महाकवि तुलसीदास ने जन-

जीवन की आन्तरिक और बाह्य निविड़ताओं के गहन जाल को अपनी मंगलमयी वाणी की मंजुल आभा से विच्छिन्न कर सुष्ठुरूपेण आगे बढ़ाया है वह विश्व-साहित्य में अलभ्य है। इतिहास के किसी संगीन स्थल पर आकर परिस्थितियों से व्यग्र उदग्र जनता में सहसा उत्तेजना की भावना फूँककर सफल क्रान्ति कराने वाले स्मरणीय साहित्य की अपेक्षा तुलसी के सौम्य साहित्यिक-सोम-रस की महिमा कहीं निराली है; जिसने भारतीय जीवन की प्रत्येक अवस्था और परिस्थिति में अलक्ष्य प्रेरणाओं के स्वस्थ उन्माद को संचरित किया है और आगे भी युगों तक करता रहेगा। तुलसी के साहित्य की यही महिमा है कि वह जन-जीवन को ही नहीं, अपितु युग-जीवन को बाहर-भीतर सभी तरफ से प्रेरणा देने में समर्थ सिद्ध हुआ है। इस दृष्टि से तुलसीदास सब-से बड़े प्रगतिवादी ठहरते हैं। अतः काव्य में सच्चे, शाश्वत प्रगतिवाद को ही स्थान मिलना उचित है, वादग्रस्त को नहीं। जो मर्मस्पर्शिणी वाणी मानव की भावनाओं में जीवन को आगे बढ़ाने की अलक्ष्य-व्यग्रता संचरित कर देती है वह अवश्य ही शाश्वत-प्रगतिवाद के अन्तर्गत समझनी चाहिये। देखिये तुलसी के ये कदम कितनी तेजी से उठ रहे हैं; क्या यह किसी सैनिक-मार्च से कम हैं:—

भूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ ।
 काहू की बेटी से बेटा न व्याहब काहू की जाति बिगारन सोऊ ।
 तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ।
 माँगि कै खैंबो मसीद कै सोइबो लैंबे को एक न दैबे को दोऊ ॥

उदयशंकर भट्ट के संवेदनशील हृदय में मजदूर की पीड़ा समा गई,
 जिससे कवि शोकावेग को असहमान होकर चीख पड़ा—

मेरी बरसातें आँसू रे, मेरा वसन्त पीला शरीर
 गरमी झरनों सा स्वेद, मेरे साथी दुख दर्द पीर

दिन उनको सुभक्तो रात मिली, श्रम सुभे उन्हें आराम मिला

बलि दे देने को प्राण मिले, हन्टर को सूखा चाम मिला ।

सुश्री सुभद्राकुमारी चौहान के स्व-संस्कृति-पोषित प्रगतिवाद से उद्वुद्ध हो युगों से वन्दनी अवला की तेज़ी भी दर्शनीय है:—

सबल पुरुष यदि भीरु बनें तो हमको दे वरदान सखी

अवलाएँ उठ पड़ें देश में, करें युद्ध घमसान सखी ।

सच्चे शाश्वत प्रगतिवाद की उक्त दृष्टि पा जाने पर अनेक आलोचकों ने कबीर से लेकर आधुनिक काल के महाकवियों तक में प्रगतिवाद की एक सुनिश्चित परम्परा के बीज खोज निकाले हैं । वे यह भी कहते हैं कि कवि युग की पीड़ाओं और क्रन्दनों की ओर से देर तक उदास नहीं रह सकता । आखिर छायावाद की उन्मादिनी छाया के नीचे अन्तस् की एकान्त साधना में लीन कवियों की मोहनिद्रा भी भंग हो गई । और वे यथार्थ की कठोर भूमि पर अवतरित होकर जन-जीवन की धारा में सबके साथ बड़ निकले, जिसके कारण यह कहा गया कि हमारे कवि युग-चेतना को पहिचानकर स्वतः ही शाश्वत-प्रगतिवादिता का परिचय देने लगे थे । मैथिलीशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी और एक भारतीय आत्मा आदि अनेक कवियों की रचनाओं में यह चेतना स्पष्टतया स्पन्दित होते हुये देखी जा सकती है । अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं विचार-परम्परा को छोड़कर अन्यत्र से आदेश-निदेश पा-पाकर पंक्तियाँ घड़ने की इन्हें आवश्यकता नहीं पड़ी । गुप्त जी की 'भारत-भारती' में यह प्रगतिशीलता खूब मिली । अस्तु !

अब यहाँ पूर्वकथित प्रगतिवादी काव्य का अवलोकन करते हुए तद्गत कविताओं की मार्मिकता और विषय-वस्तु का विश्लेषण करना

आवश्यक है, क्योंकि प्रगतिवाद भौतिक मानों

प्रगतिवादी काव्य की को साहित्य का मापक ठहराता है इसलिए

समीक्षा उसकी प्रत्येक कविता किसी पार्थिव स्थूल

उद्देश्य को ही सामने रखकर रची जाती है ।

कहना न होगा कि ये उद्देश्य वे ही हो सकते हैं जो कि मार्क्सवाद के हैं ।
मार्क्सवाद के प्रयत्नों के निम्न चार लक्ष्य बताये जाते हैं:—

प्रथम लक्ष्य—वर्ग-संघर्ष को उभाड़ना ।

इस लक्ष्य की पूर्त्यर्थ लिखी गई कविताओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार हो सकता है:—

(i) शोषित वर्ग की विपन्नावस्था का चित्रण करने वाली तथा उनके पक्ष मार्क्सवाद तथा प्रगतिवादी का समर्थन करने वाली कविताएँ ।
काव्य के चार लक्ष्य

(ii) दीन जनो के व्यङ्ग्यात्मक चित्र प्रस्तुत कर उन्हें अपनी दशा के प्रति सजग विद्रोही बनाने वाली कविताएँ ।

(iii) चिरशोषिता नारी की मुक्ति का सन्देश सुनाने वाली कविताएँ ।

द्वितीय लक्ष्य—संस्कृति सभ्यता के शत्रु पूँजीवाद को सपरिवार विनष्ट करना ।

इस लक्ष्य से लिखी गई कविताएँ निम्न दो वर्गों में रखी जा सकती हैं:—

(i) शोषकवर्ग की क्रूरता, विलासिता और धर्म, कानून तथा नैतिकता आदि से ढके कुचक्रों का भण्डाफोड़ करने वाली कृतियाँ ।

(ii) लालसेना की विजयाकांक्षा तथा उसका स्तवन करनेवाली पंक्तियाँ ।

तृतीय लक्ष्य—जन-संस्कृति का निर्माण कर सामाजिक क्रान्ति की भूमिका प्रस्तुत करना और क्रान्ति को प्रोत्साहन देना ।

इस लक्ष्य से लिखी कविताएँ भी तीन वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं:—

- (i) ईश्वर तथा भाग्यवाद का तिरस्कार करने वाली कविताएँ ।
- (ii) यथार्थवादी-प्रकृतिचित्रण-परक कवितायें ।
- (iii) सामयिक समस्याओं यथा महंगाई, बंगाल का अकाल और युद्ध आदि पर लिखी गई कविताएँ ।

चतुर्थ लक्ष्य—समाजवाद (सोशलिज्म) के द्वारा साम्यवाद (कम्यूनिज्म) की स्थिति लाना ।

उपर्युक्त वर्गीकरण को दृष्टि में रखकर प्रगतिवादी काव्य का क्रमशः पर्यवेक्षण करना सुलभ होगा । समाज की वैषम्यमयी अवस्था का सुलभ शिकार किसान-मजदूर हैं । वह सब प्रथम लक्ष्य सम्बन्धी काव्य कुछ होकर भी कुछ नहीं । सोहनलाल द्विवेदी उससे प्रश्न पूछकर उसे उसकी वास्तविक शक्ति का बोध कराने का प्रयत्न करते हैं:—

तुम्हें नहीं क्या ज्ञात; तुम्हारे बल पर चलते हैं शासन ?
 तुम्हें नहीं क्या ज्ञात; तुम्हारे धन पर निर्भर सिंहासन ?
 तुम्हें नहीं क्या ज्ञात; तुम्हारे श्रम पर सब वैभव-साधन ?

×

×

×

ये बड़े-बड़े साम्राज्य-राज, युग-युग से आते चले आज ।
 ये सिंहासन ये तख्त ताज, ये किले दुर्ग गढ़ शस्त्र साज ।
 वह तेरो हड्डो पर किसान ! वह तेरी पसलो पर किसान !
 वह तेरो आँतों पर किसान ! नस की तौंतों पर रे किसान !

किसान के साथ ही 'सुमन' का बेघरबार भी फुटपाथ पर पड़ा है—

“इस ओर पड़ीं खानाबदोश ,
 मेहनतकश मानव को पाँतें !
 फुटपाथों की चट्टानों पर ,
 जो काट रही अपनी रातें ।”

हमारे ग्राम प्रकृति-धाम हैं, जहाँ तृण-तृण और कण-कण प्रफुल्लित है, परन्तु मानव (?)

यह खर्ब नर (बानर ?) रहते युग-युग से अभिशापित ,
 अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि पंक में पालित ।
 यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित ।
 यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित !
 मानव दुर्गति की गाथा से, ओत-प्रोत मर्मन्तक !
 सदियों के अत्याचारों की [सूची यह रोमाञ्चक ॥

हमारा दरिद्र-नारायण न केवल भौतिक अभावों से ग्रस्त है, अपितु अपने रूढ़ि-गत संस्कारों की शृंखलाओं से भी जकड़ा हुआ है—

वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी वृष-बान्धव, कर्षक ,
 ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक ।

महाकवि निराला ने छायावादी शैली में “इलाहाबाद के पथ पर” मजदूरनी का चित्र उतारा । दूसरी तसवीर “भिक्षुक” की है । ये दोनों कविताएँ शब्दचित्र होकर समाज की दुर्दशा का प्रमाण बन जाती हैं:—

[१] वह तोड़ती पथर

देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर,

वह तोड़ती पथर !

कोई न छायादार

पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्त्रीकार ;

श्याम-तन, भर-बँधा यौवन ,

नत-नयन, प्रिय-कर्म-रत मन ,

गुरु हथौड़ा हाथ ;

करती बार-बार प्रहार

चामने तरु-मालिका अट्टालिका-प्राकार ।

चढ़ रही थी धूप ;
 गमियों के दिन
 दिवा का तमतमाता रूप ;
 उठी झुलसाती हुई लू ,
 रुई ज्यों जलती हुई भू ;
 गर्द चिनगी छा गई ;
 प्रायः हुई दुपहर :—

वह तोड़ती पत्थर
 एक छन के बाद वह काँपि सुघर
 दुलक माथे से गिरे सीकर—
 लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा
 मैं तोड़ती पत्थर !

× × ×

[२] वह आता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।
 पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक ,
 चल रहा लकुटिया टेक ,
 मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
 मुँह फटी पुरानी भोली का फैलाता—
 दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।

पर यहाँ तो कुछ व्यक्ति ही “भिक्षुक” के रूप में हों सो नहीं,
 “अञ्चल” को तो सम्पूर्ण नस्ल पर ही सन्देह है—

वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती ।
 बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती !
 इसी कारण पन्त का हृदय भी पसीज उठा:—

इन कीड़ों का मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज ।

भगवतीचरण वर्मा की सुप्रसिद्ध “भैंसागाड़ी” ने लोक-क्रान्ति के अग्रदूत कृषक के जीवन-वैभव (?) का कैसा मार्मिक उपहास उपस्थित किया है—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों से, हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर ।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको पर वे कहते हैं उसे ग्राम ,
जिसमें भर देती निज धुँधलापन, असफलता की सुबह-शाम
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम ।
पैदा होना फिर मर जाना, यह है लोगों का एक काम ॥

×

×

×

वह राज काज जो सधा हुआ है इन भूखे कंगालों पर ,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिलतिल मिटनेवालों पर ।
वे व्यौपारी, वे जिमींदार, जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त ,
वे निपट निरामित सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त ।
इस राजकाज के वही स्तम्भ उनकी पृथिवी उनका ही धन ,
ये ऐश और आराम उन्हीं के, और उन्हीं के स्वर्ग-सदन ।
उस बड़े नगर का राग-रंग हँस रहा निरन्तर पागल-सा ,
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन ।
दानवता का सामने नगर ! मानव का कृश कंकाल लिये—
चरमर चरमर-चूँ-चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !

ऊपर के काव्य-विधान में शोषित का उधड़ा हुआ चित्र मौजूद है, जिसमें से उसकी पीड़ा मुखरित है । परन्तु सीधी तरह कहने की अपेक्षा व्यंग्यात्मक शैली द्वारा दीन जनों को अपनी अवस्था के प्रति सजग विद्रोही बनाना कहीं सुकर है । केदारनाथ अग्रवाल का ‘चंदू’ फोकट के जीवन को कैसे अलिप्तभावेन बिता रहा है—

चंदू चना चबैना खाता ।
मुफ्त मिले अपने जीवन के
घण्टोंमिनट सैकण्डों को गिन—
कभी नहीं वह दाम लगाता !
भीख माँगते पैसा पाता ।
ईश्वर, धर्म, समाज, संपदा,
विद्या, बुद्धि, त्रिवेक खोजता—
कभी नहीं वह समय गँवाता ।

× × ×

कहीं एक कोने में बैठा
हाथ चरस की चिलम दबाये
शेष आयु का धुँआ उड़ाता
चंदू-चना चबैना खाता ।

उक्त व्यंग्यात्मक प्रणाली का उपयोग जड़ता, प्रतिगामिता और
अकर्मण्यता के मूल कारण रूढ़िवादी अन्धविश्वासों के विध्वंस के लिए भी
किया गया है । पन्त ने अपनी 'ग्राम-देवता' कविता में अकर्मण्य ग्रामीण
की सम्पूर्ण बौद्धिक जड़ता को एक बार में ही निशाना बनाया है:—

हे ग्राम्य देवता, यथा—नाम !

शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें सविनय प्रणाम !
विजया, महुआ, ताड़ो, गाँजा पो सुबह-शाम
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम !
पण्डित, पण्डे, ओझा, मुखिया औ साधु-सन्त
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पन्थ
जो था, जो है, जो होगा—सब लिख गये ग्रन्थ
विज्ञान-ज्ञान से बड़े तुम्हारे मन्त्र-तन्त्र ।

× × ×

राम राम

हे ग्रामदेव लो हृदय थाम,
अब जन स्वातन्त्र्य युद्ध की जग में धूमधाम ।
उद्यत जनगण युग-क्रान्ति के लिए बाँध लाम ;
तुम-रूढ़ि रीति की खा अफीम, लो चिर विराम !

देश-विदेश के कितने ही कला-उपासक 'ताजमहल' को प्रेम के मन्दिर के रूप में देखते चले आ रहे हैं और प्रेम की अविच्छिन्नता के मर्म की प्रशस्तियों को गाते रहे हैं जो ताजमहल के निर्माताओं को मृत्यु के बाँध भी बाँधे हुए हैं । परन्तु आज के युग में वह सामन्ती प्रेम उपहास का विषय बन गया है । महाकवि पन्त ने नवीन दृष्टि के अनुसार उस पर करारा व्यंग्य कसा है:—

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव' पूजन ?
जब विषय, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !

× × ×

मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !

× × ×

प्रेम-अर्चना यही करे' हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दे हम रूप, रंग आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?

कृषक-मजदूर के अतिरिक्त 'आधी-दुनिया' भी सदा समाज की कुव्यवस्थाओं द्वारा पीड़ित है । नारी की परवशता और दुर्दशा अन्य शोषितों से कम भयावह नहीं । उसे युग-युगान्तरों से पुरुष ने श्रीतदासी बना रखा है । उसका शरीर पुरुष की कामवासना की तृप्ति का साधन-

मात्र समझा गया, और इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए समाज, धर्म और राजनीति की उन कानूनी धाराओं का निर्माण हुआ जो नारी की इसी स्थिति का समर्थन करती हैं :—

क्षुधा काम वश गत युग ने,
पशु-बल से कर जन शासित ।
जीवन के उपकरण सहश,
नारी भी कर ली अधिकृत ।

पुरुष ने नारी के रूप को सजाया और उसकी प्रशंसा के गीत गाये । नारी ने इसमें अपना गौरव समझा, जिसकी भीनी-भीनी मादकता से वह अपनी वास्तविक स्थिति भूल गई और पुरुष को सभी प्रकार से आत्मसमर्पण कर दिया । उसकी परवशता की यही पराकाष्ठा है ।

अतृप्त-रूप-लालसा लेकर 'तुम्हारे पलकों ने न जाने कितने हृदयों को घायल कर दिया' का राग गाने वाले प्रणय-प्रसादाभिलाषी कवियों का जर्जरित और गलित दृष्टिकोण—

बाँधा है विधु को किसने
इन काली जंजीरों से ;
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ।
काली आँखों में कैसी
यौवन के मद की लाली ;
मानिक-मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली ।
गिर रही अतृप्ति जलधि में
नीलम की नाव निराली ,
काला पानी बेला सी ।
हे अंजन रेखा काली ।

अंकित कर चित्तिज पटी को

तूलिका बरौनी तेरी ।

कितने घायल हृदयों की

बन जाती चतुर चितेरी ।—[“आँसू”—प्रसाद]

अन्धकार युग की भावना का प्रतीक है । सामन्ती सभ्यता की सती, बालविधवा और वेश्या को प्रगति के युग में सदाचार-सम्बन्धी नूतन दृष्टि मिलनी चाहिये । ‘आँचल में दूध और आँखों में पानी’ वाली अबला को एकदम कामरेड बना दो—

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित

उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित ।

× × × ×

मुक्त करो जीवन संगिनि को, जननि देवि को आहत
जग-जीवन में मानव के संग, हो मानवी प्रतिष्ठित ।

× × × ×

मुक्त करो नारी को मानव, चिर वन्दिनी नारी को,
युग-युग की बन्दी कारा सं, जननि सखी प्यारी को ।

× × × ×

उसे मानवी का गौरव दे, पूर्ण स्वत्व दो नूतन
उसका मुख जग का प्रकाश हो उठे अंध अवगुण्ठन !
खोलो हे मेखला युगों की, कटि प्रदेश से तन से
अमर प्रेम ही बन्धन उसका, हो पवित्र वह मन से ।

अब कविता और प्रेम सभी इसी पृथ्वी के वन गये हैं; उनमें स्वर्गीय रहस्य, कुञ्जें, और कल्पना की लताएँ नहीं रहें । जैसे का तैसा—यथार्थवादी प्रेम और कविता— सामने आ गया:—

मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है
 बड़ी-बड़ी आँखोंवाली वह युवती,
 मारी कथा खुल-खुल कर कहती है
 चितवन उसकी और चालढाल उसकी ।
 पैदा हुई है गरीब के घर, पर
 कोई जैसे जेवरों से सजता हो,
 उभरते जीवन की भीड़ खाता हुआ
 राग साज पर जैसे बजता हो । —निराला ।

प्रगतिवाद सिद्धान्ततः रुढ़ि-विरोधी है । वह 'उन्मुक्त-प्रेम' को
 स्वाभाविक स्थिति स्वीकार कर उसे ही अधिक प्रश्रय प्रदान करता है:—

यों भुज भर कर हिये लगाना
 है क्या कोई पाप ?
 ललचाते अधरों का चुम्बन
 क्यों है पाप-कलाप ? [“कु'कुम”—नवीन]

उन्मुक्त-प्रेम-व्यापार में असाहसिक पुरुष को कैसी लताड़ सुननी
 पड़ रही है:—

धिक्करे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
 अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर !
 मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
 तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर !
 क्या छुद्र गुह्य ही बना रहेगा, बुद्धिमान् !
 नर-नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण ?

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज दिन समाज
 में पवित्र प्रेम पर वासना की काँई जमी हुई है, और हम अपने भीतर
 बसे हुए चोर के कारण प्रेम को स्वाभाविक रूप देने में असमर्थ हैं ।

परन्तु प्रगतिवाद की यह भी मान्यता है कि यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण के साथ-साथ जन-सामान्य पर पड़ने वाले प्रभाव का भी पूरा ध्यान रखा जाय। अतः यह सर्वथा विचारणीय है कि हमारे समाज में उस उन्मुक्त-प्रेम-व्यापार के प्रचार का प्रभाव कितने अंशों में स्वास्थ्य-प्रद हो सकता है ? भारतीय लोक-परिपाटी और शिष्टता के अतिक्रमण करने मात्र से ही प्रेम के ऊपर चढ़ी वासना की जंग छुट जायेगी; नहीं कहा जा सकता। उन्मुक्त-प्रेम यदि संयमहीन उच्छृङ्खलता का रूप धारण कर ले तो वह संस्कृति और सभ्यता के लिए परम घातक है। इसी दृष्टि को सामने रखकर समन्वयवादी कवि पन्त स्वच्छन्द “आधुनिका” को लक्ष्य करके कहते हैं:—

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी !

आधुनिके ! तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी !

भारतीय नारी के चिर-प्रतिष्ठित शील, संकोच और लाज के गौरव को दृष्टि में न रखकर केवल हास-विलासमय लालित्य को आधुनिकता नवीनता कहना श्रेयस्कर नहीं। इस प्रकार की फैशनेबिल वृत्ति पर पन्त ने करारा व्यंग्य किया है:—

कुल-वधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार !

शयन-कक्ष दर्शनगृह की शृङ्गार ।

उपवन के यत्नों से पोषित,

पुष्प-पात्र में शोभित, रक्षित,

कुम्हलायी जाती हो तुम, निज शोभा के ही भार !

अस्तु ! सुप्रसिद्ध ‘भैसागाड़ी’ कविता में धन-लोलुप पूँजीपतियों द्वितीय लक्ष्य-परक के विलास-वैभव का भण्डाफोड़ बखूबी काव्य मिलता है:—

है बीस कोस पर एक नगर, उस एक नगर में एक हाट ।

जिसमें मानवता की दानवता, फैलाये है निज राजपाट ॥

साहूकारों के पदों में हैं, जहाँ चोर और गिरहकाट ।

है अभिशापों से भरा जहाँ, पशुता का व्यापक ठाट-बाट ॥

शोषितों की मजदूर-किसान की जोड़ी के विपरीत शोषकवर्ग में पूँजीपति के सहयोगी राजन्य-गण हैं । इनका विलास-वैभव पीड़ित की छाती पर नृत्य करता है । 'प्रलयवीणा' में सुधीन्द्र की भंकार सुनिये:—

जिनके प्रपुष्ट कन्धों पर हैं साम्राज्य तुम्हारे आज टिके

उनके यश मान लाज सब कुछ हैं आज तुम्हारे हाथ बिके

तुम चूस प्रजा का रक्त-मांस शोषण कर हृष्ट-पुष्ट बने !

उनके लोहू से रंगते हो, तुम अपने वैभव के सपने !

पूँजीवाद के परिवार को, यदि आवश्यकता पड़ी तो, 'लाल-सेना' की धमकी भी दी जा सकती है:—

खोलो लाल निशान !

हो सब लाल जहान ! खोलो लाल निशान !

क्योंकि—

लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों की ।

वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी ।

लाल रूस का दुश्मन, साथी, दुश्मन सब इन्सानों का ।

दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का ।

—नरेन्द्र

'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के प्रसारक 'प्रगतिवाद' में 'ईश्वर' जैसी 'शक्ति' की क्या आवश्यकता ? फिर जन-तृतीय लक्ष्य से सम्बन्धित गण जो उसके पीछे पड़ा है, वह एक प्रति-काव्य गामिता ही तो ठहरी:—

आज भी जन-जन जिसे करबद्ध होकर याद करते ।

नाम ले जिसका गुनाहों के लिए फरियाद करते ।

किन्तु मैं उसका धृष्टा की धूल से सत्कार करता !—अंचल !

ईश्वर की स्पष्ट प्रतारणा के बाद आत्मा का नम्बर आया । आत्मा तो सूक्ष्म अनश्वर है, उसे 'जग' की क्या आवश्यकता ? जग की अपेक्षा तो इस 'रक्त-मांस-पिण्ड' को है—“जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित ।” इस प्रकार आत्मा और शरीर में शरीर दुर्बल-तर है, उसी के लिए जग की उपयोगिता है और एतदर्थ उपयुक्त बनाना चाहिये । शरीर में आत्मा ही सारवस्तु है, शरीर क्षण-भंगुर मिट्टी है ।

जलक्षिति पावक गगन समीरा ।

पंच रचित यह अधम शरीरा ॥

इस प्रखंड तत्त्वज्ञान का थोथापन पन्त ने निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत किया है:—

आत्मा का अधिवास न यह,—वह सूक्ष्म अनश्वर !

न्यौछावर है आत्मा नश्वर रक्त-मांस पर,

जग का अधिकारी है वह, जो है दुर्बलतर ।

इसके आगे प्रगतिवाद काव्य से कल्पना और भावुकता का बहिष्कार कर कविता-कामिनी को अपने स्वाभाविक यथार्थ रूप में देखना चाहता है । इस दृष्टि से यथार्थवादी प्रकृति-चित्रण-परक कई कविताओं में कला का निर्मल सादा रूप सुन्दरता से सामने आया । यह 'स्वयंवर' अवश्य दर्शनीय है:—

एक बीते के बराबर

यह हरा ठिंगना चना

बाँधे मुरैठा शीश पर—

छोटे गुलाबी फूल का,

सज कर खड़ा है

पास ही मिलकर उगी है,
 बीच में, अलसी हठोली—
 देह की पतली, कमर की है लचोली;
 नील फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर
 कह रही है,
 जो छुपे यह,
 दूँ हृदय का दान उसको !
 और,
 सरसों की न पूछो ।
 हो गई सबसे सयानी;
 हाथ पीले कर लिये हैं;
 ब्याह-मंडप में पधारी ।
 फाग गाता मास फागुन
 आगया हो पास जैसे !

देखता हूँ मैं, स्वयंवर हो रहा है !—केदारनाथ अप्रवाज ।
 वसन्तागम के समय जिन्होंने 'ग्राम-श्री' देखी होगी वे सहज ही में
 इस प्रकृति-चित्र की मोहकता का ग्रहण कर सकेंगे:—

उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध,
 फूली सरसों पीली-पीली,
 लो, हरित धरा से भाँक रही,
 नीलम को कलि, तीसी नीली ।
 रंग रंग के फूलों में रिलमिल
 हँस रही संलिया मटर खड़ी,
 मखमली पेटियों सी लटकीं
 छीमियाँ, छिपाये बीज लड़ी

भर रहे ढाँक, पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली ।

× × × ×

ऊँची अरहर में लुका छिपी
खेलतीं युवतियाँ मदमाती,
चुम्बन पा प्रेमी युवकों के
श्रम से शलथ जीवन बहलतीं ।

× × × ×

मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम—

जिस पर नीलम नभ-आच्छादन,—

निरुपम हिमांत में स्निग्ध शान्त

निज शोभा से हरता जन मन !

भौतिक मानों को ही साहित्य का मापक मानने वाला प्रगतिवादी कवि भला सामयिक समस्याओं से कैसे विमुख रह सकता है। वर्ग-संघर्ष तथा सुख-संविधान की तीव्र लालसा आदि जागृत करने के ये ही अलभ्य अवसर माने जाते हैं। बंगाल के अकाल ने न केवल प्रगतिवादियों को ही अपितु प्रत्येक सच्चे कवि को उस ओर ध्यान देने के लिए बाधित किया; क्योंकि कोई भी सहृदय कवि देर तक इस प्रकार मानवता के विनाश से उदासीन नहीं रह सकता। यह और बात है कि कौन किस रूप में उसे देखता है। केदारनाथ अग्रवाल ने उस दारुण दशा का चित्र निम्न शब्दों में रखा:—

वाप बेटा बेचता है ।

भूख से बेहाल होकर

धर्म, धीरज, प्राण खोकर

हो रही अनरीति बर्बर

राष्ट्र सारा देखता है ।

बाप बेटा बेचता है ।

माँ अचेतन हो रही है

मूर्च्छना में रो रही है

दम्भ के निर्मम चरण पर

प्रेम माथा टेकता है

बाप बेटा बेचता है ।

शर्म से आँखें न उठतीं

रोष से छाती धधकती,

और अपनी दासता का

शूल उर को छेदता है ।

बाप बेटा बेचता है ।

जब द्वितीय विश्वयुद्ध अपने सर्वग्राही विकराल रूप को संसार पर फैलाता चला जा रहा था तो नरेन्द्र ने कवियों और देश को यह सन्देश सुनाया:—

गरज रही हुँकार, हो रहा घर घर हाहा-कार

कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की भंकार ?

शतशः योजन शस्य-श्यामला पृथ्वी के निरुपाय,

शतशः अरुद्ध सभ्यता के पददलित आज असहाय,

यहाँ लुब्धा का देश, दासता, विग्रह का आगार;

कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की भंकार ?

यहाँ तक हमने देखा कि आज का प्रगतिवादी कवि उत्पत्ति के सम्पूर्ण साधनों पर समाज को एकाधिकार दिलवाने के लिए, काव्यगत

सभी शक्तियों का उपयोग करता हुआ

चतुर्थ लक्ष्य के लिये

मंगलकामना

‘समाजवाद’ की प्रस्थापना का यत्न करता

है। यही समाजवाद साम्यवाद की आदर्श स्थिति को ला सकता है, जिसके लिए कवि

वाणा को तपश्चर्यामय निर्विलास जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है:—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

भव कर्म आज की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलम्बित,

तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोमय में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

×

×

×

×

तुम जब चेतन की सीमाओं के आरपार
भङ्गृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक शब्द,

ज्योतिष कर जनमन के जीवन का अन्धकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

अस्तु ! प्रगतिवादी काव्य की मार्मिकता और विषय-वस्तु के व्याज से हमने उसका भावपक्ष देखा । अब यहाँ संक्षेप में कलापक्ष का किंचित् विश्लेषण करने के पश्चात् यह प्रकरण कलापक्ष समाप्त हो जायेगा ।

प्रगतिवादियों ने काव्य में नवीन विचारों और भावों के साथ साथ अभिव्यंजना के नये-नये आलम्बन और उपादानों की अवतारण की है । इसका कारण यह है कि कला और साहित्य

के प्रति उनका दृष्टिकोण भावात्मक न होकर बुद्धिप्रधान आलोचना-त्मक है। उनकी प्रवृत्ति विशेष से हटकर सामान्य की ओर है। काव्य में सूक्ष्म, सुन्दर, कोमल और चुनी हुई सामग्री ही ग्राह्य होती है; प्रकृत, कुत्सित, लघु और अनघड़ तिरस्करणीय है; इस परम्परागत धारणा के स्थान पर साधारण स्वस्थ जन-जीवन के व्यवहार में आने वाली सम्पूर्ण सामग्री को काव्य-विषय माना। उनकी सम्मति में स्वस्थ जीवन-दर्शन यथार्थ और वास्तविकता की भूमि पर स्थित होता है। यथार्थ जीवन में सूक्ष्म-स्थूल, सुघड़-अनघड़ और रुक्ष-कोमल सभी हैं। अथच सूक्ष्म-स्थूल का अन्तर काल्पनिक है। मानसिक विलास और रूप मोह में पड़कर जीवन के स्वस्थ एवं उपयोगी उपादानों को उनके बाह्य प्राकृत और अनघड़ रूप के कारण त्याज्य मानना उचित नहीं। जीवन को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना वांछनीय है। अस्तु !

इन आधारों पर प्रगतिवादी काव्य में रूप-रंग और रोमांस से प्रेन करने वाला रीतिकालीन कला-विलास तथा छायावादी दूराच्छन्न कल्पना व मधुचर्यातिरेक का अभाव है। जन-सामान्य से सम्बन्धित और जन-सामान्य के लिए ही होने के कारण सरल और सीधा है—अर्थात् ठेठ खड़ीबोली में खरा, खड़ा और तीखा है।

निराला जी की 'कुकुरमुत्ता' कविता में इस नई कविता की प्रमुख विशेषताएँ एक स्थान पर ही मिल सकती हैं। 'कुकुरमुत्ता' की कहानी यह है—“एक नवाब साहब बगीचे के बड़े शौकीन थे। उनके बगीचे में फ़ारस तक के गुलाब के फूल बड़ी देख-भाल से लगाये गये थे। मालिन की लड़की 'गोली' और नवाबज़ादी 'बहार' में बड़ी प्रीति थी। गोली ने गुलाब की क्यारियों की सफ़ाई के लिए स्वतः उगे हुए कुकुरमुत्तों को उखाड़ लिया और कबाब बनाया। यह कुकुरमुत्ते का कबाब बहार ने भी खाया। कबाब की तारीफ़ नवाब साहब के कान में भी पड़ी। उन्होंने माली को बुलाकर हुक्म दिया कि

गुलाब की जगह कुरुरमुत्ते उगाये जायें। उत्तर मिला —

मुआफ़ करे खता;

कुरुरमुत्ता उगाया नहीं जाता ।”

इसका व्यंग सीधा होने के साथ साथ शक्तिशाली भी है। कुरुर-
मुत्ता गुलाब से कहता है :—

अबे, सुन बे गुलाब,

भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब,

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,

डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट,

कितनों को तूने बनाया है गुलाम,

माली कर रक्खा, खिलाया जादा घाम ।

अंग्रेजी काव्य में की भर्ती और उस पर हमारे पाठकों के श्रद्धापूर्ण-
विस्मय के प्रति भी कुछ छींटे लगे हाथ फेंक दिये हैं :—

कहीं का रोड़ा, कहीं का लिया पत्थर,

टी० एस० इलियट ने जैसे दे मारा,

पढ़ने वालों ने जिगर पर हाथ रखकर

कहा, “कैसे लिख दिया संसार सारा

अभिव्यञ्जना की नई बानगी देखिये :—

आगे चली गोली जैसे डिक्टेटर

उसके पीछे बहार, जैसे भुक्खड़ फालोअर,

उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर—

आधुनिक पोयेट (Poet)

पीछे बाँदी बचत को सोचती

कैपिटलिस्ट, क्वाएट (Quiet)

कुरुरमुत्ता ‘असंस्कृत-सामान्य’ का प्रतीक है। यह स्वतः ही उगता
एवं विकसित होता है। गोली की कृपा से बहार भी इस ‘असंस्कृत-

सामान्य' के सम्पर्क में आई जिससे बहार ने भी स्वस्थ जीवन की उष्णता (कबाब का स्वाद) को अनुभव किया और उसी की कामना करने लगी । इसके विपरीत कृत्रिम देखभाल (शिक्षा-दीक्षा) और खाद (शोषितजन) के खून को चूसकर परिपुष्ट कोमल-कान्त-कलेवर गुलाब के फूल, शोषक धनपतियों की तरह समाज के लिए सर्वथा अनुपयोगी बनकर, रमणी-जनों की विलास-वस्तुमात्र रह जाते हैं ।

‘कुकरमुत्ता’ तथा अन्य कविताओं को देखकर हम निम्न तथ्यों का संग्रह कर सकते हैं :—

- (i) कि प्रगतिवादी काव्य में भाषा में गद्यात्मकता रहती है ।
- (ii) कि अभिव्यञ्जन-प्रणाली में चमत्कार की कामना से विरहित होकर प्रभावोत्पादन के लिए व्यंग्योक्ति और अन्योक्ति जैसी कतिपय पद्धतियों का मुख्यतया ग्रहण किया जाता है । नवीन आलम्बनों व उपादानों के सहारे भी सफलतापूर्वक प्रभाव पैदा किया जाता है ।
- (iii) कि भाषा सरल व सुबोध बनाई जाती है ।
- (iv) कि छन्दों के बन्धन का आग्रह नहीं । मुक्त-छन्दों की प्रवृत्ति है ।



साहित्य अतृप्त वासनाओं की पूर्ति का साधन है

[फ्रायड के सिद्धान्तों पर अवस्थित साहित्यिक मतवाद]

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक भारी क्रान्ति का मुख्य श्रेय कुछ आस्ट्रियन पण्डितों को है। इनमें फ्रायड, युंग और आँडलर का नाम प्रधानतया उल्लेखनीय है। इन्होंने मनोविज्ञान शास्त्र में कई नवीन तथाकथित खोजें कीं। तथाकथित इसलिए कि अनेक विद्वानों की यह मान्यता है कि अवचेतन मन (जिसकी सर्वप्रथम सत्ता को फ्रायड ने खोज निकाला—ऐसा कहा जाता है) की इस प्रकार की स्थिति का ज्ञान रखे बिना कोई महान् साहित्यिक अपनी मार्मिक रचनाओं में भावाभिव्यक्ति, नहीं कर सकता जो कि आज दिन तक के संसार के साहित्य में उपलब्ध है। अतः जाने या अनजाने उन्हें अवचेतन मन की करामात का आभास रहता ही था। हाँ, इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि फ्रायड ने अवचेतन मन को वैज्ञानिक भाषा में वैज्ञानिक ढंगों से प्रस्तुत किया जिसके कारण वर्तमान विज्ञान के युग में वह एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकृत हो सका। इसके अतिरिक्त भारतीय शास्त्र के रस-सिद्धान्त के मूलभूत “स्थायीभावों” पर दृष्टिपात करने पर अवचेतन मन के रहस्यों का विशद होना बड़ा ही स्पष्ट हो जाता है। स्थायी (अविच्छिन्न प्रवाह वाले) भाव मूल मनोवृत्तियाँ ही हैं; क्योंकि गूढ़ रूप से उनकी स्थिति मानस में रहती है। अतएव उनकी संज्ञा स्थायी की गई है। स्थायीभावों की इस व्याख्या को दृष्टि में रखने पर उपर्युक्त कथन की सारवत्ता में सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता।

श्री इलाचन्द्र प्रभृति विद्वानों की सम्पत्ति में प्राचीन भारतीय मन

शास्त्रवेत्ता इस अवचेतन मन की खोज बहुत पूर्व ही कर चुके थे । इस के प्रमाण में महाकवि कालिदास के “शाकुन्तलम्” का निम्न श्लोक उद्धृत किया जाता है :—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि ॥

[शाकुन्तलम्, अंक ५]

अर्थात् रम्य व मधुर दृश्यों और शब्दों को देख सुनकर जो सुखी जन भी उन्मने हैं उसका कारण यही है कि उनकी जागृत चेतना में विगत-जीवन की प्रेम-भरी वे स्मृति उद्बुद्ध हो उठती है जो चेतना के भीतर संस्कार रूप बद्ध पड़ी थी ।

अस्तु ! अब हम प्रकृत का अनुसरण करते हुए फ्रायड के अनु-सन्धानों पर दृष्टिपात करेंगे :—

- (i) मानव के अवचेतन मन के अस्तित्व की सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप में सूचना फ्रायड ने दी ।
- (ii) यौन-प्रवृत्ति मानव-मन की (फलतः मानव-जीवन की) मूल परिचालिका है । फ्रायड इसकी व्याख्या यों करता है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य यौन-प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निन्दित अतएव नैतिक दृष्टि से घृणित समझने लगा है और वह उस विशेष प्रवृत्ति से सम्बन्धित मनोवेगों को भरसक अपने मन के भीतर दबाते रहने का प्रयत्न करता चला आता है । पर वे दमित मनोवेग सर्वथा विलुप्त न होकर सचेत मन के नीचे उसके अवचेतन भाग में सञ्चित होते रहते हैं । अर्थात् सचेत मन की अनु-भूति के परे दमित मनोवेगों का सञ्चित पुञ्ज ही मानव

का अवचेतन मन है। विशेष अवसरों पर असाधारण घटनाओं के धक्के के कारण उन दमित मनोवेगों में हलचल उठ खड़ी होती है; तभी वे सचेत मन द्वारा विस्मृत प्रवृत्तियाँ फिर मन के ऊपरीय स्तर पर आकर टकराने लगती हैं। फलतः सचेत और अवचेतन मन के मध्य द्वन्द्व मचता है, जिसके कारण अनेक मानसिक उलझनें उत्पन्न होती हैं। इन्हें मानसिक जटिलताएँ या गुत्थियाँ (Complex) कहते हैं।

- (iii) स्वप्न तथा जागृतावस्था में हम जितने भी स्वप्न देखते हैं या ख्याल बाँधते हैं वे परिवर्तित रूपों में हमारी दमित यौन वासनाओं को ही विस्फुटित करते हैं।
- (iv) हमारे स्वभाव की सभी विकृतियों का मूल कारण दमित यौन-प्रवृत्ति ही है। इसके साथ-साथ सुकृतियाँ या सुसंस्कृत व समुन्नत प्रवृत्तियाँ भी दमित यौन-प्रवृत्तियों का ही उदात्तीकृत रूप हैं।

अर्थात् मानव-जीवन को प्रगति की ओर बढ़ाने वाली अथवा विकृति की ओर पीछे घसीटने वाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है। वह है यौन-प्रवृत्ति।

- (v) प्रत्येक व्यक्ति अपने अवचेतन मन का निर्माण अपने ही जीवन-काल में स्वतन्त्र रूप से करता है, यद्यपि मूल नियम सबके लिए एक ही है।

फ्रायड के उपर्युक्त सिद्धान्तों पर विश्वास करने वाले स्वभावतः यह मानते हैं कि कवियों की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी यौन प्रवृत्ति से ही परिचालित हैं। अपितु साहित्य से विषय में तो फ्रायड की मान्यताओं को अधिक स्पष्टता से ही सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि साहित्य में शृंगार का ही एकच्छत्र राज्य है। कल्पना के लोक में पहुँचकर साहित्यिक

अपनी दमित यौन-प्रवृत्तियों को खुलकर रूप दे सकता है और देता भी है ।

साहित्य ने अपने लिए बुद्धि का विचारात्मक क्षेत्र छोड़कर भावनाओं का अपार सागर चुन लिया है । ये भावनाएँ कल्पनाओं के पंख लगाकर अनोखे स्वप्नलोकों की सृष्टि किया करती हैं । फ्रॉयड के मत से भावनाओं का मूलस्रोत अवचेतन मन में है । अवचेतन मन अपनी दमित वासनाओं के विशाल भंडार को यह आकर विस्तृत करने का पूरा-पूरा अवसर पाता है । अब यदि हम भावनाओं के क्रीड़ा-विलास की सम्यक् विवृति चाहें तो हमें मनोविज्ञान-शास्त्र के आधार पर उनका विश्लेषण व विवेचन करना पड़ेगा ; अन्यथा कोई रास्ता नहीं है । इसीलिए आज के युग में साहित्य की व्याख्या के लिए मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का सहारा लिया जाना आवश्यक है । साहित्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टि के निम्न ध्येय हो सकते हैं :—

- (i) मानव-जीवन के मूलगत रहस्यों का परिचय मनोविश्लेषण के आधार पर देना ।
- (ii) काव्य-कथा के पात्र-पात्रियों के जीवन का यथार्थ मूल्यांकन उनकी मानसिक प्रवृत्तियों के सूक्ष्म विवेचन द्वारा करना ।
- (iii) जीवन और जगत् के मूलगत तत्त्वों का यथार्थ निरूपण मनोविश्लेषण के आधार पर करना ।
- (iv) जीवन के दोनों—अन्तरंग तथा बाह्य—पहलुओं की समस्याओं के मेल व संघर्ष पर प्रकाश डालना ।

संक्षेपतः काव्य का कर्तव्य हुआ —“मानव के गहन-जाल-जटिल मन की अगाध रहस्यमयता के भीतर डूबकर वहाँ से जीवन के मूल संचालक तत्त्वों की खोज और छानबीन करके जगत् की अज्ञान समस्याओं को रसात्मक रूप में सामने रखना और उनके सुलभत्व के मुभाव भी अपने दृष्टिकोण से आभास रूपा में देना ।” यह यही मनोवैज्ञानिक दृष्टि पाने

पर ही सम्भव होता है। अतः साहित्य के लिए मनोविज्ञान की मूल उपयोगिता असन्दिग्ध है।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि की महत्ता साहित्य में स्वीकार की ही जा सकती है। प्रगतिवाद की साहित्यिक धारा तो मार्क्स की तरह डार्विन और फ्रायड को भी पथ-प्रदर्शक मानकर बह रही है। इतना होते हुए भी साहित्य के विषय में यह धारणा नहीं बनाई जा सकती कि उसका विकास किन्हीं अमुक सिद्धान्तों के आधार पर हो रहा है या होना चाहिए; चाहे वे सिद्धान्त वैज्ञानिकता की फुल-ड्रेस में ही क्यों न आ उपस्थित हुए हों। साहित्य तो अपना विकास सरल स्वाभाविक ढंगों से ही करता रहा है। वैज्ञानिक और बौद्धिक मतवादों की विभीषिका उसको जीर्ण-ज्वर की तरह ग्रस्त कर सकती है।

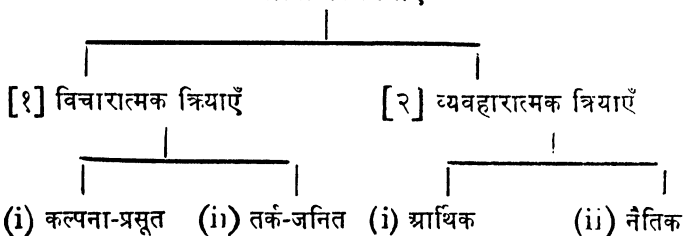
अभिव्यञ्जनावाद

अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्तक वेनेडेटो क्रोचे हैं। इनका जन्म इटली में हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकता के विपरीतआत्मा की सत्ता की प्रतिष्ठा करना इनका लक्ष्य था। अतः वस्तुतः ये आत्मवादी दार्शनिक थे। और इनके विवेचन का क्षेत्र मूलतः आध्यात्मिक था। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऐस्थेटिक' (Aesthetic) है।

आत्मा की क्रिया-विधि के प्रसंग में वे कला-सृष्टि के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं। उनका मन्तव्य निम्न प्रकार है :—

आत्मा की क्रियाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—
[१] विचारात्मक और [२] व्यवहारात्मक। व्यवहारात्मक क्रिया के दो रूप -- आर्थिक और नैतिक हैं। इसी प्रकार विचारात्मक क्रिया को भी (जिसमें समस्त मानव-ज्ञान आ जाता है) दो खण्डों में विभक्त किया गया है—प्रथम खण्ड कल्पना-प्रसूत और दूसरा तर्क-जनित होता है। जगत् के नाना रूपों और व्यवहारों का इन्द्रियों द्वारा जो संवेदन आत्मा तक पहुँचता है उसे कल्पना की सहायता से जब बिम्ब रूप से अन्तःकरण में उपस्थित करते हैं तो हमें सहजानुभूति (Intuition) होती है। कला-सृष्टि की मूल-प्रक्रिया यही है। इसके विपरीत जब तर्क-वितर्क से प्राप्त-संवेदनों की तुलना, वर्गीकरण और नियम-निर्धारण करते हैं तब विचार (Concepts) बनते हैं, जो दर्शन एवं विज्ञान के उदय के कारण हैं। कोष्ठक रूप में उक्त विभाजन को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

आत्मा की क्रियाएँ



जैसा कि अभी कहा-आत्मा की उपरिलिखित क्रियाओं में से कला का सम्बन्ध कल्पना-प्रसूत-क्रिया (स्वतः-प्रकाशित ज्ञानोत्पादिका भी इसे कहा जा सकता है) से ही है। जब हमारी आत्मा के संसर्ग में कोई बाह्य पदार्थ आता है तो स्वतः-प्रकाशित ज्ञान के रूप में 'कतिपय अरूप भङ्कृतियाँ' (संवेदन) पैदा होती है। उक्त अरूप भङ्कृतियाँ कल्पना (जो कि आत्मा की एक सहज शक्ति है) के सूक्ष्म साँचे में ढलकर सूक्ष्म रूप से भीतर ही भीतर 'अभिव्यञ्जित' होती हैं। क्रोचे की दृष्टि में यह आन्तरिक एवं सूक्ष्म अभिव्यञ्जना या रूप-विधान (इसीको सह-जानुभूति नाम दिया गया है) ही कला की दृष्टि से सब कुछ है; इसी का महत्त्व है। अरूप भङ्कृतियों का कल्पना के साँचे में ढलकर भीतर ही भीतर उपस्थित होना ही कला है और सौन्दर्य है। यह एक आध्यात्मिक क्रिया है। अब सहजानुभूतिरूप सौन्दर्य से जन्य आनन्द की अनुभूति होती है; जिसे शब्द, रंग और रेखा आदि प्राकृतिक तत्त्वों की सहायता से अनूदित किया जाता है। इसी का फल काव्य, चित्र आदि कला-कृतियाँ हैं।

उपर्युक्त कथन का यदि विश्लेषण किया जाय तो कला-सृष्टि की प्रक्रिया को पाँच सोपानों में विभक्त कर सकते हैं :—

- (i) पदार्थों के आत्मा के संसर्ग में आने पर आत्मा में अरूप-भङ्कृतियों (या संवेदनों) का उठना। (ये संवेदन स्वतः प्रकाशित ज्ञान रूप होते हैं)।

(ii) भंक्रृतियों का कल्पना के साँचे में ढलकर समन्वित होना या अभिव्यञ्जित होना । (कल्पना में मूर्त-विधान होना या सहजानुभूति होना)

(iii) सहजानुभूति से सौन्दर्य-जन्य आनन्दानुभूति का होना ।

(iv) इसी आनन्दानुभूति का शब्दादि प्राकृतिक तत्त्वों द्वारा अनु-वाद ।

(v) इस प्रकार अनूदित कलाकृति का प्रस्तुत होना ।

क्रोचे द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त 'आत्मा की क्रियाओं' से कला-सम्बन्धी निम्न सिद्धान्त सामने आते हैं :—

१. अभिव्यञ्जना की सहजानुभूति है । सहजानुभूति ही सौन्दर्य है, और सौन्दर्य ही कला है, जिससे कलाकृति का जन्म होता है । अर्थात् "अभिव्यञ्जना = सहजानुभूति = सौन्दर्य = कला" ।

इस फार्मूले के स्पष्टीकरण के लिए सहजानुभूति के तत्त्व पर पुनः दृष्टिपात करना अच्छा होगा :—

(i) आत्मा में अरूप भंक्रृतियों का उत्पन्न होना, उठना ।

(ii) अरूप भंक्रृतियों का आत्मा की सहज-शक्ति कल्पना द्वारा बिम्बरूप में होकर अभिव्यञ्जित होना ।

(iii) इस अभिव्यञ्जना के होते ही कलात्मक सौन्दर्यरूप सहजानुभूति (Intuition) होना ।

मन और बुद्धि, अन्तःकरण की दो शक्तियाँ कही जा सकती हैं जो अपने-अपने हिस्से के विभाजित-कार्य करती हैं । मन कल्पना कर मकता है, निर्णय करने की क्षमता इसमें नहीं । निर्णय का कार्य बुद्धि के सुषुप्त है । संकल्प, विकल्प, इच्छा, स्मृति, श्रद्धा, उत्साह, प्रेम आदि मन के गुण अथवा धर्म हैं । सार-असार का विचार करके निश्चय करने वाली इन्द्रिय बुद्धि है ।

क्रोचे की सहजानुभूति मन की क्रिया—कल्पना—का परिणाम है जो

कला का बोध-पक्ष है; बौद्धिक ज्ञान से इसका सम्बन्ध नहीं। और विचार बुद्धि की क्रिया—तर्क—का बोध-पक्ष है। अतः सहजानुभूति और विचार में स्वाभाविक भेद है। वह बौद्धिक ज्ञान से स्वतन्त्र है। सहजानुभूति आत्मा को परिपूर्ण चित्र प्रदान करती है; जबकि विचार आत्मा के ज्ञान-भण्डार में एक तथ्यमात्र की वृद्धि करके रह जाता है।

सहजानुभूति के तत्त्व के विश्लेषण से तीन तत्त्व हाथ आते हैं—वस्तु या भाव, काल्पनिक आकार और अभिव्यञ्जना। वस्तु के बिना काल्पनिक आकृति सम्भव नहीं तो भी क्रोचे ने वस्तु या भाव को कला में विशेष महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि वस्तु काल्पनिक आकृति के बिना सौन्दर्य-भावना को जागृत करने में असमर्थ है तथा सहजानुभूति या सौन्दर्य भावना आकृति-प्रधान ही है। अधिकांश विद्वानों ने क्रोचे द्वारा वस्तु या भाव की इस उपेक्षा को उचित नहीं बताया। उनका प्रधान आक्षेप यह है कि वस्तु के बिना आकार की कोई सत्ता ही नहीं होती, तब फिर वस्तु या भाव का महत्त्व क्यों नहीं ?

क्रोचे की दृष्टि में भाव या वस्तु का निषेध तो नहीं है परन्तु आकृति ही रस-सञ्चार में प्रमुख होने से गौरवास्पद हो सकती है। इसके साथ उसकी यह मान्यता है कि वस्तुतस्तु वस्तु और आकृति में भेद ही नहीं है। वस्तु या भाव सत्ता रूप से अन्तस् है तो आकृति उसका बाह्य। कला की दृष्टि से वस्तु या भाव आकृति से निरपेक्ष नहीं रह सकते।

आचार्य शुक्ल ने क्रोचे की इस भावहीनता पर तीव्र प्रहार किया है—“इटली-निवासी क्रोचे ने अपने ‘अभिव्यञ्जनावाद’ के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयं-प्रकाश-ज्ञान (Intuition) प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत-ज्ञान से भिन्न, केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञान-मात्र माना है। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गये हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने

काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यञ्जना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्वरूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना वे पीछा नहीं छुड़ा सके हैं।” — (आचार्य शुक्ल-‘साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद’)

वस्तु और आकृति के बाद आती है अभिव्यञ्जना। वस्तु या भाव के कल्पना द्वारा आकृति धारण करते ही अभिव्यञ्जना और सहजानुभूति एक साथ ही उदित हो जाती हैं, जिससे उन दोनों का तादात्म्य ही प्रकट होता है। क्रोचे कहता है—“*There is one produced with the other at the same instance because they are not two but one*”—*Aesthetic*.

सहजानुभूति के सम्बन्ध में इतनी बात और ध्यान रखनी चाहिये कि वह सम्वेदन या इन्द्रिय-बोध नहीं है। यह ठीक है कि इन्द्रिय-बोध के बिना सहजानुभूति सम्भव नहीं, तो भी उन दोनों के बीच कल्पना-शक्ति की कार्य-कुशलता आवश्यक है। पहिले कल्पना के सहारे बिम्ब की अभिव्यञ्जना होती है, तब सहजानुभूति का उदय होता है। व्यवहारतः यह उद्भूति युगपत् है। इन्द्रिय-बोध तो सभी को होता है परन्तु सहजानुभूति प्रतिभा, शक्ति या कवि-व्यापार वाले को ही होता है। अतएव वही सौन्दर्य है और कला है।

२. पूर्णतया सफल अभिव्यञ्जना ही अभिव्यञ्जना होती है। असफल या कम सफल अभिव्यञ्जना नहीं होती, वह विकारमात्र है। अतः घटिया अभिव्यञ्जना न होने से बढ़िया अभिव्यञ्जना भी सम्भव नहीं। अभिव्यञ्जना ही कला है, इसलिए कला में भी घटिया, बढ़िया नहीं हो सकता। इसका अर्थ हुआ कि कला में या सौन्दर्य में उत्तमाधम-मध्यम का कोटिक्रम सम्भव नहीं। क्रोचे कला के वर्गीकरण का विरोधी है।

३ जब अभिव्यञ्जना, कला या सौन्दर्य में कोटि-क्रम सम्भव नहीं, वह अपने आपमें एकमात्र रूप से पूर्ण है तो :—

- [क] अलंकार और अलंकार्य का भेद भी सम्भव नहीं। इसी दृष्टि से अलंकारों की गणना और उनके भेदोपभेद करना भी निरर्थक है।
- [ख] शैली और कवि-व्यापार आदि पर जोर देने वाले सिद्धान्त भी अतात्त्विक हैं।
- [ग] और इस हेतु से भी काव्य में अभिव्यञ्जना से व्यतिरिक्त वस्तु का भी कोई महत्त्व नहीं। इसके अतिरिक्त काव्य-वस्तु अपने आप में निष्क्रिय एवं जड़ है। उसके सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली अरूप भक्तियाँ भी आकारहीन होने से कोई विशेषता नहीं रखतीं। जब वे कल्पना के योग से अभिव्यक्त हो जाती हैं अभिव्यञ्जनास्वरूप ही होकर कला में समाहित हो जाती हैं। इसलिए काव्य में वस्तु को पृथक् करके देखना उचित नहीं।

४. अभिव्यञ्जना कला है। उसका अनुवाद कलाकृति है। अतः कला और कलाकृति में स्पष्ट भेद है। अस्तु !

अब एक उदाहरण से क्रोचे द्वारा प्रतिपादित कला-सृजन की विधि की परख भी देख लेनी चाहिए। निम्न पद्य के कर्ता श्री ब्रह्मानन्द जी के सामने—सांसारिक जन का भक्ति-विमुख हो जीवन को व्यर्थ गँवाने—का तथ्य रहा होगा। यह एक परिस्थिति है जिसके संसर्ग से कवि की आत्मा में अरूप-भक्तियों का उठना स्वाभाविक है। अतः कह सकते हैं कि इस प्रकार का भाव स्वतः-प्रकाशित होने वाला ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना के सूक्ष्म ताने-बाने में आकर कवि के मानसपटल पर बिम्ब रूप से छा गया होगा, अभिव्यक्त हुआ होगा, जिससे कवि को एक सहजानु-भूति (Intuition) हुई। जो उसकी कला का आधार बन गई। आधारप्राप्तिरूप सफलता ही सौन्दर्यानुभूति है। उसको स्थूल शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया :—

ऐरी सखी ! बतला दे मुझे पिय के मन भावन की बतियाँ ॥
 गुन-हीन, मज्जीन शरीर मेरा, कुछ हार-सिंगार किया भी नहीं ॥
 रस-प्रेम की बात न जानूँ कछु मेरी कौपति हैं डर से छतियाँ ॥
 प्रिय अन्दर महल बिराज रहे घर काजन में ज़िपिटाये रही ।
 पल एकौ घड़ी नहिं पास गई बिरथा सब बीति गई रतियाँ ॥
 पिय सोबत ऊँची अटारिन पै, जहाँ जोव परन्द की गम्य नहीं ।
 किस मारग जाय मिलौ उनसै, किस भाँति बनाय लिखौ पतियाँ ॥
 निज स्वारथ का संसार सभी, अब प्रीति करौं कासे मन में ।
 ब्रह्मानन्द तेरा हितकार पिया जग भीतर और नहीं गतियाँ ॥

यह आवश्यक नहीं कि कवि-कल्पना में जो कला की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है उसे अनिवार्य रूप से शब्दों में या अन्य किसी भौतिक उपकरण में प्रस्तुत किया जाय । परन्तु जब वह इस प्रकार भौतिक रूप धारण करती है तो निसर्गतः उसमें कला-सौष्ठव होना ही चाहिए । काव्य-कला के स्थूल परीक्षकों की दृष्टि में इस छन्द में 'समासोक्ति' अलंकार है । "प्रभु-भक्ति न कर सकने पर ग्लानि फिर तद्विषयक जिज्ञासा" यह प्रस्तुत है । इसका कथन इस प्रकार हुआ है कि जिससे "पत्नी की, प्रियतम के साथ रमण के अवसर खोकर पश्चत्तापजन्य विलास की उत्कण्ठा" का भी स्फुरण हो जाता है । वातावरण की अन्विति के लिए-सखी की उक्ति सखी के प्रति—की उद्भावना भी मनोरम बन पड़ी है । ध्वनि-परीक्षक इसकी शृंगार रस व्यंग्यता पर मुग्ध हो सकते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि कवि की अभिव्यञ्जना अभिव्यञ्जना है तो कला-कृति में कोर-कसर की गुंजायश नहीं ।

हमने देखा कि काव्य की आत्मा का प्रश्न हमारे यहाँ इस लिए उठ खड़ा हुआ कि उसका सही लक्षण किया जा सके । विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये । यही नहीं, पाश्चात्य देशों में भी काव्य के विषय में अरस्तू के समय से विवेचन होता चला आया

है। इन सभी विवेचनों का केन्द्र काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्व ही रहे। किसी ने बाह्य तो दूसरे ने आभ्यन्तर तत्त्वों पर जोर दिया। परन्तु इतना तो स्वीकार ही करना पड़ता है कि जब विभिन्न तत्त्वों में सर्वोपरि एक तत्त्व को खोजा जायेगा तो आभ्यन्तर तत्त्व को ही स्थान मिलेगा। उनमें भी 'रस' की विशेषता है, क्योंकि काव्यमात्र का लक्ष्य आनन्द ही प्राप्त है, और आनन्द ही 'रस' है। इसलिए पौरस्त्य और पाश्चात्य, सभी की व्याख्याएँ निरर्थक हो जाती हैं। यदि यह मान लिया जाय कि काव्य में प्रभविष्णुता या रसानुभूति एवं रसाभिव्यक्ति का तत्त्व आवश्यक नहीं, तब फिर क्यों न यह स्वीकार कर लिया जाय कि काव्य की आत्मा या काव्य की मूलशक्ति 'रस' में ही केन्द्रित है ?

देखने से ज्ञात होता है कि रस की इस सर्वोपरि महत्ता को सभी आलोचकों ने परखा है, और माना भी है। तदपि व्याख्याकारों में जो मतवैभिन्न्य पाया जाता है उसका कारण दृष्टिकोण या अवलोकन की दिशा की भिन्नता है। जिस प्रकार विभिन्न दिशाओं से देखने पर एक ही व्यक्ति अनेक रूपों में भासता हुआ भी अपनी मूल सत्ता में 'वही' रहता है और उसकी मूल सत्ता प्रभावशाली रूप से कायम रहती है उसी प्रकार काव्य में रसाभिव्यक्ति की केन्द्रिक चेतना असन्दिग्धरूपेण सर्वातिक्रान्तवर्तिनी है; चाहे काव्य की बह्याभिव्यक्ति विभिन्न रूपों और रंगों में कितनी ही झिलमिलाती रहे। यह तथ्य सभी को मानना पड़ा। अतः रस को साथ लेकर ही अपने विवेचन को पूर्ण बना सके।

अलंकारवादियों ने रसवाद के रूप में रस को स्थान देकर अपनी अपूर्णता को पूरा करना चाहा तो इधर कुन्तक ने रस की व्यापक महत्ता को सोद्घोष स्वीकार कर रही-सही कमी पूरी कर दी—

निरन्तररसोद्धारगर्भसौन्दर्यनिभेराः ।

गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥

“कवियों की वाणी इसके कारण ही जीवित रहती है, कथामात्र के आश्रय से नहीं।” ध्वनिकार का काम तो रस के बिना चल ही कैसे सकता था ? उन्होंने ‘रस-ध्वनि’ को अपने यहाँ सर्वोच्च आसन प्रदान किया। अतएव वे कवि को रसमय रूप के प्रति हिदायत कर गये हैं :—

व्यंग्य-व्यञ्जकभावेऽस्मिन्निविधे सम्भवत्यपि ।

रसादिमये एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान् ॥ ध्वन्यालोक

रस की नव-जीवन-प्रदायिनी शक्ति को वे भला कैसे भूल सकते थे—
‘काव्य में रस-सिञ्चन से पूर्व-दृष्ट-अर्थ भी नया रूप धारण कर लेते हैं, जैसे वसन्त में वृक्ष नये-नये दिखाई पड़ने लगते हैं।’

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।

सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥

इसी प्रकार अभिव्यञ्जनावादियों के सामने भी काव्य के परम लक्ष्य की समस्या रही; उनका उद्धार भी रसाश्रय से ही होता है। देखिये “काव्य में अभिव्यञ्जनावाद” के लेखक श्री सुधांशु जी क्या कहते हैं—
“काव्य के लिए सहजानुभूति ही सब कुछ है, उसमें बुद्धि का व्यायाम हो जाने पर वह काव्यकार और पाठक—दोनों के लिए एक समस्या उपस्थित कर देता है। जिस काव्य में रस-सञ्चार की प्रकृत क्षमता नहीं, वह भारतीय दृष्टि से ही नहीं, योरोपीय दृष्टि से भी हेय है।”

कविता का लक्षण करते हुए आचार्य शुक्ल ने तो रसानुभूति के आनन्द को मोक्ष के आनन्द के समकक्ष बताते हुए रसदशा का विधान ही कविता का परम लक्ष्य माना है :—

“जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है, हृदय की इसी मुक्तिसाधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।”

रीतिवादी आचार्य यद्यपि काव्य की बाह्य साधना के पक्षपाती थे तो भी गुणों के सहारे उनकी भी रस तक पहुँच हो गई।

शताब्दियों पूर्व नाट्याचार्य भरत ने जिस 'रस' की निष्पत्ति का प्रतिपादन किया था वह आज भी नित्य नवीन और पुरातन विचार-धाराओं की लहरियों से ऊपर उठकर काव्यलोक में गङ्गाजल की तरह महत्त्व के साथ प्रवाहित है। पूर्व, पश्चिम में अभी तक रस-वाद का स्थान ले सकने वाला कोई भी साहित्यिक सिद्धान्त आविष्कृत नहीं हो सका है। एक विद्वान् का कथन है—“इसी भाव-पक्ष की भित्ति पर रसवाद का जो निर्माण-कार्य हुआ है, वह विश्व-साहित्य में अपने ढंग की एक ही वस्तु है।”

अन्त में श्रीकण्ठचरित के रचयिता की वाणी में रस-स्तुति के साथ यह प्रसंग समाप्त करते हैं :—

तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि

रूढोमहस्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि ।

नूनं बिना घनरसप्रसराभिषेकं

काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः ॥

“सैकड़ों अलंकारों से शोभित, उच्चपद पर प्रतिष्ठित और सौष्ठव-शाली होता हुआ भी प्रबन्ध सान्द्र-रस-धारा अभिषेक के बिना काव्याधिराज पदवी नहीं पाता।”
